CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५.५

5218

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

।। ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय संदर्शिका

मूल प्रणेता :–

आध्यात्मिक संत श्रीमदमृतचन्द्राचार्यः

卐

(पीठिका)

5218

(१)

卐 मंगलाचरण 卐

तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतलइव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।१।।

निष्कलंक निष्कंप निराकुल परमज्योति चिद्रूप महान।
दर्पणवत् बिंबित हों जिसमें अर्थ स्वयं सब सत्तावान् ।।
सहभावी जिनके गुण एवं क्रमभावी पर्याय अनंत–
नित सुस्पष्ट विभासित हों वह–ज्ञानमयी हो चिर जयवंत ।।

भावार्थः–वह चित्स्वरूप (चैतन्यमयी) परंज्योति केवलज्ञान जयवंत हो–जिसमें आलोकाकाश सहित तीनों लोकों के पदार्थ अपनी अपनी अनंत पर्यायों सहित दर्पण के समान स्पष्टतया प्रतिविम्बित होते हैं।

आचार्य श्री ने यहां ज्ञान को दर्पण की उपमा दी है–जैसे दर्पण में उसकी स्वच्छता और योग्यता के कारण अन्य पदार्थ अनायास ही झलकने लगते हैं उसी प्रकार परंज्योति स्वरूप निरावरण शुद्ध ज्ञानरूपी दर्पण में स्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव से ही पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। दर्पण में तो पदार्थ का वर्तमान रूप ही झलकता है, किंतु शुद्ध ज्ञान में भूत, भविष्यत वर्तमान काल संबन्धी पदार्थों की सभी पर्यायें भी एक साथ स्पष्टतया झलकने लगती हैं। निर्मल एवं अनंतज्ञान की यह स्वाभाविक विशेषता और महत्व है।

सूत्र में ज्योति के साथ परं विशेषण ज्ञान की निर्मलता (निरावरणता) का द्योतक है। जब हमारा सीमित और सावरणज्ञान भी वस्तुओं की भूत कालिक अनुभव में आई हुई किन्ही दशाओं को आज भी जान लेता है तो यदि निरावरण पूर्ण ज्ञान सबको सब अवस्थाओं में जान ले—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

मंगलाचरण में किसी व्यक्ति विशेष केवलज्ञानी को नमस्कार न कर परंज्योति स्वरूप कैवल्य गुण को नमस्कार किया है, जिसके प्रकट होने पर व्यक्ति में देवत्व (आप्तपना) प्रकट होता है। गुण का अभिनन्दन करने से गुणी का अभिनंदन स्वयं हो जाता है, क्योंकि गुण-गुणी में वस्तुतः भेद नहीं होता। इसप्रकार आचार्यश्री ने उन सभी आप्त पुरुषों का अभिनंदन किया है जो परं ज्योति (कैवल्य) से विशिष्ट हैं। वस्तुतः मंगलाचरण में आचार्यश्री ने विनम्र भाव से सर्व प्रथम दवत्व के रूप में देववंदना की है। इस ग्रंथ का निर्माण चूंकि आत्मा में उसी परंज्योति को प्रकट करने के उद्देश्य से किया गया है। अतः उसे अपने चरम लक्ष्य एवं आदर्श के रूप में भी (प्रकारांतर से) आचार्यश्री ने दरशा दिया है।

(२)

मंगलाचरण

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमास्यनेकान्तम् ॥२॥

परमागम का प्राण वस्तुतः जो सुसिद्ध है सर्वाङ्गीण।
सकल सुनय जिसमें विलसित हैं निर्विरोध बाधादि विहीन ॥
जन्मांधों के हस्तिज्ञानवत् भ्रम निरस्त कर जो तत्काल।
अर्थ वस्तुतः दरशाता उस अनेकांत प्रति नमन त्रिकाल ॥

भावार्थः—जो जन्मांधों के भ्रम पूर्ण हस्ति संबंधी ज्ञान और कथन का-जो एकांगी होता है—निषेधक है, संपूर्ण नयों से विलसित (युक्त या परिपूर्ण)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं एवं एकांतवादियों (मताग्रहियों) के समस्त विरोधों एवं विसंवादों को दूरकर वस्तु तत्व के यथार्थ निरूपण द्वारा समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता है उस अनेकाँत की मैं वंदना करता हूँ।

इस कारिका में भी आचार्यश्री ने मंगलाचरण के रूप में किसी शास्त्र विशेष को नमस्कार न कर उसकी प्रमुख विशेषता अनेकांत की वंदना की हैं। वस्तु स्वरूप अनेकांतात्मक होने से सत्य भी अनेकांतात्मक है और इसीलिये वस्तु स्वरूप का अनेकांतात्मक कथन ही सत्य हो सकता है। जब कि अपूर्ण ज्ञानियों का एकांतिक कथन मताग्रह पूर्वक किया गया होने से (आंशिक ज्ञान को ही पूर्ण ज्ञान मानने व कथन करने के कारण सदोष हो जाने से) सत्य से बहुत दूर चला जाता है। अतः सत्य की अनेकांतात्मकता के कारण अनेकांत को परमागम का जीव कहा गया है। इसके सिवाय जिस प्रकार जन्म से अंधे व्यक्ति हाथी के एक २ अंग का स्पर्श कर उसे ही पूर्ण हाथी समझ लेते हैं और फिर उसी भ्रमपूर्ण समझ के आधार पर परस्पर विवाद करते एवं एक दूसरे को असत्यभाषी कहकर अपनी अज्ञता प्रकट करतें हैं तब उन्हें कोई नेत्रवान् (सूझता) पुरुष ही हाथी का सर्वांग वर्णन कर उनके भ्रमों को दूर कर सकता है उसी प्रकार संकुचित दृष्टिधारी समस्त एकांतवादी मत मतान्तरों को नेत्रवान पुरुष की भांति अनेकाँत ही वस्तु स्वरूप की यथार्थता का बोध करा उनके दृष्टि भ्रम को दूर कर सत्य का बोध कराता हुआ समस्त विसंवादों को भी दूर करने में समर्थ होता है। यह अनेकाँत ही सम्पूर्ण नयों (दृष्टिकोणों) की क्रीड़ा भूमि है जो बिना किसी रोक टोक व भेद भाव के वस्तु को प्रत्येक कोण से देखने जानने और कथन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है। वह सम्पूर्ण विरोधों को-जो अस्ति नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद, नित्य-अनित्यादि धर्मों के प्रतिपादन करने से ऊपरी दृष्टि से प्रतीत होते हैं—परस्पर सापेक्ष कथन द्वारा शमन करने वाला भी है। इसी का आलंबन कर पात्रों की योग्यतानुसार उन्हें सत्य का ज्ञान कराने के लिये किसी नय को मुख्य और शेष को गौणकर समस्त शास्त्रों की रचनाएँ भी की गई हैं, अतः अनेकान्त को मंगलाचरण में शास्त्र के प्रमुख गुण के रूप में नमस्कार किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकांत वस्तुतः वैज्ञानिक सत्य है–जिसके आधार पर वस्तु में निहित अनेक गुण धर्मों की मान्यता पूर्वक शोध खोज द्वारा वस्तु की पूर्णता का ज्ञान कराया जा सकता है। अतः अल्प ज्ञानियों और तत्व जिज्ञासुओं को वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने व समझने के लिए अनेकांत का आश्रय लेना अनिवार्य है। अनेकांत की उपर्युक्त विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए ही आचार्यश्री ने शास्त्र के स्थान पर अनेकांत को नमस्कार किया है।

(३)

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ।।३।।

लोकत्रय सकलार्थ विभासक परमागम है नेत्र प्रधान।
अवलोकन कर वह सुयत्नतः आत्मसात् कर सम्यग्ज्ञान–
यह पुरुषार्थसिद्धि संसाधक भ्रमतमवारक ग्रंथ महान–
विद्वज्जन हित हेतु तत्वतः करूँ उद्धरित सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थः–जिसके द्वारा तीनों लोकों के समस्त पदार्थ देखे जा सकते हैं ऐसे त्रिलोक संदर्शक परमागम रूपी नेत्र का यत्नपूर्वक भलीभांति-आश्रय लेकर विद्वज्जनों के ज्ञान वर्द्धन एवं कल्याण हेतु इस पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नामक ग्रंथ का मेरे द्वारा उद्धार किया जाता है।

ग्रंथ रचना के पूर्व ग्रंथकर्ता ने इस प्रतिज्ञा सूत्र द्वारा यह भी दरशा दिया है कि मैं कोई नवीन सिद्धांत या मत का प्रतिपादन करने नहीं जा रहा, प्रत्युत् जिनवाणी (परमागम) का अध्ययन कर तीर्थंकर-परम्परा से जो उपदेश पूर्वाचार्यों ने भव्य जीवों के कल्याण हेतु परमागम द्वारा प्रदान किया था उसी का अनुसरण और संग्रहण कर इस ग्रंथ की रचना कर रहा हूँ। ग्रंथ की रचना आचार्य श्री ने मुख्यतया विद्वज्जनों को लक्ष्य बनाकर की है, जिन्हें प्रमाण नय निक्षेपादि का प्रारम्भिक ज्ञान है और जो संसार से मुक्ति (पुरुषार्थ की सिद्धि) प्राप्त करना चाहते हैं। जिन्हें प्रमाण-नयों का यथार्थ ज्ञान नहीं है वे अनेकांतात्मक जिनवाणी के स्याद्वाद रूप मुख्य गौण कथन को न समझ पाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के कारण भ्रम में पड़ जाते हैं या सर्वथा एकांत को ग्रहण कर मिथ्यावादी बन जाते हैं, अतः जिनवाणी को समझने के लिये प्रमाण व नयों का ज्ञान आवश्यक है।

(४)

वक्ता या धर्मतीर्थ प्रवर्तक का लक्षण

मुख्योपचारविवरण निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।।४।।

दुर्निवार है जो शिष्यों का भ्रमतम जनित जटिल अज्ञान–
मुख्य तथा उपचार कथन कर जो निरस्त करते मतिमान्
वे निश्चय व्यवहार नयों के ज्ञाता धर्माचार्य प्रवीण–
जगती पर सद्धर्म तीर्थ का करें प्रवर्त्तन सर्वाङ्गीण।।

भावार्थः—लोक में धर्म तीर्थ प्रवर्तन में वही पुरुष समर्थ हो सकता है जो मुख्य और उपचार (निश्चय और व्यवहार) नयों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता होकर निष्पक्ष भाव से शिष्यों के अज्ञान या कुज्ञान को मुख्य और उपचार कथन द्वारा दूर कर सके।

जो निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को यथार्थ में नहीं जानता वह शिष्यों के एकांत विपरीतादि मिथ्यात्वों के कुचक्र में फँसे हुए भ्रमपूर्ण मन्तव्यों का निराकरण करने में समर्थ नहीं हो सकता। जो स्वयं ही नयों के स्वरुप से अनभिज्ञ है वह जिनवाणी में निरूपित विविध नयों द्वारा मुख्य गौण रूप में प्रतिपादित अनेकांतात्मक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप में नहीं समझ पायेगा। जो स्वयं नहीं समझा वह शिष्यों को क्या समझायेगा ? अतः यथार्थ वक्ता को सर्व प्रथम नयों और उनके स्वरूप का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इसके साथ ही किस शास्त्र में किस प्रयोजन एवं किस नय की प्रधानता से किस योग्यता वाले शिष्यों को लक्ष्य कर कौनसा उपदेश दिया है इन बातों की जानकारी भी आवश्यक है। तब ही वह धर्म तीर्थ के प्रवर्त्तन में समर्थ हो सकता है।

(५)

निश्चय और व्यवहार नय

निश्चयमिह भूतार्थम् व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।।५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय नय भूतार्थ यहाँ पर अभूतार्थ है नय व्यवहार।
विमुख प्राय भूतार्थ बोध से—दीख रहा सारा संसार।।
अपना शुद्ध स्वरूप न समझे—संयोगी पर्याय स्व-जान—
सुर, नर, नारक मात्र स्वयं को जान बना जन भ्रमित महान।।

भावार्थ :—यहाँ निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ के रूप में प्रतिपादन किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण संसार भूतार्थ के ज्ञान से विमुख है।

भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं- द्रव्य, सत्य, हित, अतीतकाल, प्रेतयोनि, जीव, आदि। यहाँ किस अर्थ में भूत शब्द का प्रयोग किया गया है? यदि इस पर विचार करें तो प्रकरण को देखते हुए भूत शब्द का अर्थ 'द्रव्य' ग्रहण करना सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। क्योंकि आगम में नयों के मुख्य दो भेद किये गये हैं (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक। जो वस्तु को द्रव्य की मुख्यता से जानता या कथन करता है वह द्रव्यार्थिकनय और जो पर्याय की मुख्यता से वस्तु को जानता या कथन करता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इन्ही दोनों नयों का प्रयोग अध्यात्म ग्रंथों में निश्चय और व्यवहार के नाम से किया गया है।

संसार प्रायः द्रव्यों के और द्रव्यों में भी आत्मा के वास्तविक त्रैकालिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप से परिचित नहीं है। वह उसकी (आत्मा की) अशुद्ध (संयोगी) पर्यायों को ही देखता जानता और उन पर मोहित हुआ पर्याय विमूढ़ (केवल पर्याय दृष्टि) बना हुआ है। मनुष्य देव, नारकी, तिर्यंचादि रूप जो जीव की कर्म बंध जन्य संयोगी पर्यायें है या रागादि विभाव हैं उन्हें ही अपना स्वरूप मान चैतन्य स्वभावी चिदानंदघन ज्ञानस्वरूप आत्मा के वास्तविक रूप को भुलाए हुए उससे अनभिज्ञ बना हुआ है और इसीलिये निश्चय निरपेक्ष व्यवहाराभासी बनकर आत्म कल्याण करने में असमर्थ भी सिद्ध हो रहा है।

निश्चय नय का लक्ष्य या विषय भेद रूप गुणपर्यायों को गौण कर अभेद रूप द्रव्य है और व्यवहार नय का विषय भेद रूप गुण पर्यायें हैं। अतः निश्चय भूतार्थ (भूत अर्थात द्रव्य ही है प्रयोजन जिसका) है, और भेदरूप पर्याय विषय होने से व्यवहार अभूतार्थ है। ये दोनों ही नय परस्पर में सापेक्ष होकर वस्तु का पूर्ण और यथार्थ ज्ञान कराने में (अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी दृष्टि से) सहायक होते हैं। अतः सम्यग्ज्ञान का अंग होने से सुनय हैं। क्योंकि द्रव्य स्वयं ही पर्यायवान् है–पर्यायों से भिन्न द्रव्य नहीं होता और द्रव्य से भिन्न पर्यायें नहीं होती। जब वस्तु स्वयं ही द्रव्य गुण पर्यायवान् है तो उसका यथार्थज्ञान और कथन भी परस्पर सापेक्ष होना सत्य का द्योतक हो सकता है। अतः यदि दोनों नय परस्पर सापेक्ष न होकर सर्वथा निर्पेक्ष हों तो नयाभास बनकर एकांत मिथ्यात्व की कोटि में आ जावें और दुर्नय कहलावें। अतः परस्पर मैत्री भाव रखते हुए (श्रोता की योग्यतानुसार) नयों को मुख्य गौणरूप कर वस्तु स्वरूप का कथन करना ही योग्य और कल्याणकारक है। इसीलिए जिनागम में शिष्यों की योग्यतानुसार कहीं निश्चय नय और कहीं व्यवहार नय की प्रधानता से कथन किया गया है। अतः मुख्य कथन को ही सर्वथा सत्य और गौण विषय को सर्वथा असत्य नहीं समझते हुए गौण को गौण ही मानना उचित है।

(६)

व्यवहार नय की उपयोगिता

अबुधस्य बोधनार्थम् मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।।६।।

अज्ञानी जन हेतु वस्तुतः करने सम्यग्ज्ञान प्रदान–
मुनीश्वरों ने अभूतार्थ नय–द्वार दिया उपदेश महान।
व्यवहारहि परमार्थ मानता–किंतु भ्रांत जो मोहाधीन–
उसे न है उपदेश तत्वतः होने से श्रद्धान मलीन।।

भावार्थ :—जिनेन्द्र भगवान् ने अज्ञानीजनों को वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध कराने के उद्देश्य से अभूतार्थ (व्यवहार) नय का उपदेश दिया है; किंतु जो केवल व्यवहार को ही परमार्थ जानता है– अर्थात् संयोगी पर्यायमात्र को ही वस्तु (आत्मा) समझ कर मूल वस्तु को भुलाए हुए है उस पर्याय विमूढ़ जीव को उपदेश नहीं है।

जैसे नाटक में नटराज नामक बहुरुपिया (एक ही अभिनेता) कभी सुन्दर स्त्री के वेश में, तो कभी कुरूपा नारी के रूप में और कभी राजा, मंत्री, सेनापति, सेठ, मुनीम, या अन्य रूप में रंग मंच पर आकर विभिन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिकाओं में अभिनय करता है। तब जो दर्शक उस अभिनेता के मूल रूप को न समझ कर स्त्री वेश में देख उस पर मोहित हो जावे या राजा अथवा सेनापति के रूप में देख उसको सेनापति ही मान उसके शौर्य पर मुग्ध हो जावे तो उसकी वह अज्ञानता ही मानी जायगी, उसी प्रकार यह संसारी जीव भी वस्तु के (आत्मा के) मूल वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बना हुआ केवल पर्याय विमूढ़ हो रहा है। जैसे नाटक के दर्शकों में जो व्यक्ति उस अभिनेता की वास्तविकता को जानता है, कि यह स्त्री या राजा नहीं, वरन् 'नटराज' नामक अभिनेता है, जो नाना रूप धारण कर अभिनय कर रहा है—तो वह उसके अभिनय को देखता हुआ कामातुरादि नही होता और न भ्रमित होता। उसी प्रकार जिन व्यक्तियों को आत्मा के मूल स्वरूप और उसकी शुद्धाशुद्ध पर्यायों का यथार्थ ज्ञान है वे ही तत्व के विषय मे भ्रमित नहीं होते।

यहाँ आचार्य श्री का अभिप्राय वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनों सापेक्ष नयों के माध्यम से (शिष्यों की योग्यतानुसार) कराने का है। एक ही आत्मा संसार में मनुष्य देव नारकी आदि गतियों में नानारूपों को धारण कर बहुरुपिया के समान अभिनय कर परिभ्रमण करता चला आ रहा है और वह स्वयं जिस रूप को धारण करता है उसी को अपना वास्तविक रूप मान भ्रमित हो जाता है। जैसे नाटक में स्त्री का रूप धारण कर अभिनय करनेवाला नटराज भी यदि अपने को स्त्री ही मान ले तो यह उसका भ्रम है उसी प्रकार इस आत्मा का अपनी संयोगी पर्याय में अपने को तात्न्मात्र अनुभव करना भ्रम है। अतः जो जीव अपने को मात्र देव मनुष्यादि मानने का निश्चय किये हुए हैं और भ्रमपूर्ण मताग्रह को त्याग कर परमार्थ-अपने शुद्ध स्वरुप को जानने के लिये उत्सुक नहीं हैं, उन्हें धर्म देशना देने से लाभ नहीं।

(७)

व्यवहाराभासी जीव की असत् कल्पना

माणवक एवं सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।

देखा जाना सिंह न जिसने जीवन भर प्रत्यक्ष नितांत—
वह बिलाव में सिंह कल्पना—कर बन रहता जन विभ्रांत ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यों निश्चय नय का रहस्य जो जान न पाते हैं संभ्रांत।।
उन्हें मात्र व्यवहारहि होता– निश्चयता को प्राप्त नितांत।।

जिस प्रकार किसी ने सिंह को कभी भी नहीं देखा और न जाना हो वह बिलाव के समान सिंह का कथन करने पर बिलाव को ही सिंह मान बैठता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति ने निश्चय नय से मूल वस्तु (आत्मा) को नहीं जाना वह केवल व्यवहार नय का आश्रय लेकर जीव की संयोगी पर्यायों को तावन्मात्र आत्मा मानकर भ्रम में फँसा रहता है। अतः मुमुक्षुओं का कर्तव्य है कि वे व्यवहार और निश्चय-उभय नयों के द्वारा परस्पर सापेक्ष रूप में प्रतिपादित (मुख्य गौणरुप में) अनेकांतात्मक वस्तु स्वरुप को द्रव्य पर्याय रूप समझें, जानें और अनुभव करते हुए यथार्थ रुप में आत्मज्ञान प्राप्त कर कल्याण करें।

(८/१)

नयों के प्रति निष्पक्षता से लाभ

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।८।।

जो निश्चय व्यवहार नयों की दृष्टि यथावत् जान प्रवीण
रह मध्यस्थ बने समदर्शी– उक्त उभय नय पक्ष विहीन–
भगवद्वाणी का अविकल फल शिष्य वही पाता मतिमान्–
पक्षपात ही दृष्टि मोह है जिससे जीव बना अज्ञान।

जो सत्पुरुष व्यवहार और निश्चय नयों के स्वरुप को यथार्थ रूप में समझ कर उनके विषय भूत तत्व (वस्तु के स्वरुप) के विषय में मध्यस्थ भाव को धारण करता है (पक्षपात वा खींचतान नहीं करता) वही शिष्य भगवान् के उपदेश का परिपूर्ण फल प्राप्त करता है अर्थात् सम्यग्ज्ञानी बनकर आत्म कल्याण कर सकता है। किन्तु जो व्यक्ति पूर्वाग्रहों से भ्रमित होता हुआ व्यवहार या निश्चय नय के द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप के संबंध में पक्षपात पूर्ण खींचतान करने लगता है वह अनेकांतमयीं जिनवाणी की सीमा का उल्लंघन कर एकांत मिथ्यात्व के कुचक्र में फँस वस्तु स्वरुप या मोक्षमार्ग को (यथार्थ रूप में) प्राप्त करने से सर्वथा वंचित रह जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८/२)

निष्पक्ष बनने की प्रेरणा

अतः सकल नय पक्षपात तज तत्व स्वरूप यथावत् जान–
सम्यग्दृष्टि बनो-हो जिससे– प्राप्त सहज ही समयग्ज्ञान।
नय के पक्षपात से तत्क्षण–मार्ग भ्रष्ट होकर जन भ्रांत–
ऐकांतिक मिथ्यात्व ग्रहण कर जिनमत से हो पतित नितांत।

इस विषय में ग्रंथकर्त्ता परम पूज्य आचार्य श्री अमृतचन्द स्वामी ने अपनी समयसार की टीका में एवं पंडित प्रवर आचार्य कल्प आशा धर जीने अनगार धर्मामृत में एक अज्ञात महान् आचार्य द्वारा लिखित निम्न गाथा का उल्लेख करते हुए वक्ता और श्रोता मुमुक्षुओं को चेतावनी भी दी है:—गाथा निम्न प्रकार है–

जइ जिणमयं पवज्जय तो मा ववहारणिच्चयं मुअह।
एकेण विणा छिज्जई तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

अर्थात् यदि तू जिनमत का प्रवर्त्तन करना चाहता है तो—व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़। क्योंकि यदि व्यवहार नय को छोड़ देगा तो धर्मतीर्थ का लोप हो जायेगा-अर्थात् धर्मज्ञान शून्य-जनों को उपदेशादि द्वारा धर्म के मार्ग पर नहीं लगाया जा सकेगा और न निश्चय धर्म को पा सकेगा, और यदि निश्चय नय को छोड़ देगा तो वस्तु का मूल स्वरूप नहीं जाना जा सकेगा अर्थात् तत्व का लोप हो जावेगा।

(८/३)

विभिन्न दृष्टियों से दोनों नयों की उपयोगिता

यदि जिनधर्म प्रवृत्ति इष्ट है–जीव मात्र हित सर्वांङ्गीण।
तदि निश्चय व्यवहार पक्ष तज–बंधु ! बनो नयपक्ष विहीन।
नय व्यवहार बिना हो जाये–धर्मतीर्थ का पर्यवसान।
निश्चय विन शुद्धात्म तत्व फिर–दर्शायेगा कौन महान ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसलिए वक्ता और श्रोता दोनों का कर्तव्य है कि वे दोनों नयों और उनके द्वारा प्रतिपादित द्रव्य पर्याय रूप वस्तु के स्वरुप को यथावत् समझें और दूसरों को भी निष्पक्ष एवं वीतराग भाव से समझानें में सावधानी वर्तें। इसी से स्वपर कल्याण एवं जिन धर्म की प्रभावना संभव है। कहा भी है–

केई नर निश्चय से आत्मा की शुद्ध मान–
हुए हैं स्वछंद न पिछाने निज शुद्धता।
केई व्यवहार दान तप शील भाव को ही–
आत्मा को हित मान छाड़ें नहि मुद्धता।
केई व्यवहार नय-निश्चय के मारग को
भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।"

–पंडित प्रवर टोडरमलजी

।। इति पीठिका ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रथमोऽध्यायः

(सम्यग्दर्शनाधिकारः)

(१)

पुरुष का स्वरूप

अस्तिपुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्श गन्धरसवर्णैः ।
गुण पर्यय समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।१।।

पुरुष वस्तुतः स्वयं जीव है–स्वतः सिद्ध चैतन्य स्वरूप।
स्पर्श, गंध, रस रूप विवर्जित–जड़ पुद्‌गल से भिन्न अनूप ।।
सुख सत्ता सम्पन्न अपरिमित–शाश्वत गुण पर्यायोंवान् ।
ध्रुवोत्पाद व्यय युक्त अनवरत, नव तत्वों में सर्व प्रधान ।।

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा को पुरुष कहते हैं – जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है और अपने गुणों तथा पर्यायों से सहित है एवं उत्पाद व्यय ध्रौव्य से विशिष्ट है ।

लोक में जो उत्तम गुणों का सेवन करे उसे पुरुष कहते है अथवा जो लोक में उत्तम कार्य करे उसे पुरुष कहते हैं । चैतन्य स्वरूप आत्मा में ये दोनों गुण घटित हो जाते हैं; क्योंकि आत्मा ज्ञानादि उत्तम गुणों से विशिष्ट भी है और उत्तम कार्य भी वही करता या कर सकता है । इस प्रकार आचार्य श्री ने इस ग्रंथ का जो 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' नामकरण किया है और उसमें पुरुष शब्द का आत्मा के अर्थ में जो प्रयोग किया है उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है ।

स्पर्श रस गंध वर्ण रहित आत्मा को प्रतिपादित करने से रूपादि गुण विशिष्ट पौद्‌गलिक शरीर से आत्मा का पृथक्‌पना और वह गुण पर्याय विशिष्ट है यह कहने से आत्मा स्वतंत्र एक द्रव्य है यह सिद्ध हो जाता है । तथा वह न तो कूटस्थ नित्य है क्योंकि उत्पाद व्ययमयी पर्यायों से युक्त है और न सर्वथा क्षणिक (नाशवान्) है; क्योंकि उसका अस्तित्व द्रव्य के रूप में त्रिकाल पाया जाता है । इन विशेषणों से जो लोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते उनका तथा जो उसे सर्वथा नाशवान् या कूटस्थ नित्य मानते हैं उनके मतों का भी सहज ही निराकरण हो जाता है।

(१०)

जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्व

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥१०॥

यह अनादि से बद्ध जीव नित वर्ते कर परिणाम मलीन।
जो स्वज्ञान गुण के विवर्त हैं परंपरागत चिर कालीन॥
इन्हीं मलिन परिणामों द्वारा कर्म बंध होता तत्काल।
कर्मोदय वश पुनि विभाव का कर्त्ता भोक्ता भी हो बाल।

भावार्थ :–यह आत्मा चैतन्य स्वभावी होकर भी अनादि कालीन संतान परंपरा से ज्ञान के विवर्त्तों (रागादि विकार भावों) से परिणमन करता हुआ अपने इन विकार भावों का कर्त्ता और उनके फलों (सुख-दुखादि) का भोक्ता बना हुआ है।

तात्पर्य यह कि आत्मा अनादि काल से कर्म बंधन सहित होने के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ मोह वश रागादिभावों को करता रहता है और फिर उनके द्वारा नवीन २ कर्मों का बंधकर उनके फल सुख दुखादि को भोक्ता बना हुआ संसार परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा में कर्मबंधन और रागादि भावों की परंपरा नवीन न होकर अनादि से चल रही है इसलिये आत्मा ही अपने रागादि भावों का कर्त्ता और सुख-दुखादि का भोक्ता है। यदि वह एक बार भी शुद्ध (कर्म बंधन रहित) हो जावे तो फिर उसमें न तो रागादि भाव उत्पन्न हो सकते हैं और न नवीन कर्म का बंध व सुख दुखादि की उत्पत्ति। ये सब फिर उसमें असंभव हैं। जैसे मुक्त जीव अर्थात् सिद्ध परमात्मा में।

यद्यपि आत्मा अनादिकाल से संसार में अशुद्ध बना हुआ है इसीलिए दुखी हो रहा है, तथापि उसका स्वभाव आनन्दमयी है, इस कारण प्रत्येक आत्मा सुखी बनना चाहता है। अतः यह आवश्यक है कि उसका अर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(प्रयोजन या लक्ष्य) जो वास्तविक शांति और आनन्द है उसे प्राप्त करने का उपाय खोजा जावे। ताकि फिर कभी और किसी भी प्रकार दुखी न बनकर सदा के लिये परमानन्द दशा को प्राप्त हो जावे।

(११)

पुरुषार्थ की सिद्धि कैसे होती है ?

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णम् यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धिमापन्नः ।।११।।

जब अशुद्ध चैतन्यमयी इन परणतियों से होकर पार–
जीव स्वज्ञानानंद विभव को अनुभवता निज रूप सम्हार ।
तन्मय हो रम रहे उसी में तब होकर कृतकृत्य महान
निज पुरुषार्थ सिद्धि कर सत्वर पाता पावन पद निर्वाण ।।

भावार्थ :–जब यह विकारी आत्मा सम्पूर्ण राग द्वेष मोहादि विकारों से, जो कि ज्ञान के विवर्त हैं–रहित होकर अपने चैतन्य स्वरूप में निमग्न होकर निष्कंप (निर्विकल्प) दशा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् परम साम्य भाव को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में रम जाता है उसी समय अपने प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होकर कृतकृत्य बन जाता है।

आचार्य श्री ने इस कारिका द्वारा आत्मा के अर्थ की सिद्धि अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि के सम्यक् उपाय का संक्षेप में निरूपण किया है। चूंकि सुख आत्मा का ही गुण या स्वभाव है, अतः वह आत्मा में ही प्राप्त या प्रकट होगा और यह तभी होगा जब हम अपने स्वरूप में रम जावें। जब तक हम आत्म भिन्न पर वस्तुओं के मोह एवं रागद्वेषादि विकारों में उलझे रहेंगे तथा विषय भोगों में सुख की भ्रान्त कल्पना करते रहेंगे तब तक अनेक प्रकार की आकुलताएँ घेरे ही रहेंगी और इनके घेरे में फँसे व्यक्ति को वास्तविक आत्मिक सुख की प्राप्ति हो जाना संभव नहीं है।

(१२)

आत्मा से कर्म बंधन क्यों और कैसे होता है ?

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ।।१२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव-कर्म का बंध परस्पर क्यों कर हो वा कौन प्रकार ?
कर्मोदय निमित्त पा चेतन करता जब रागादि विकार।
इन्हीं विकारों के निमित्त से कर्म वर्गणाएँ तत्काल-
परिणमतीं स्वयमेव कर्म बन तब होता है बंध विशाल ॥

भावार्थ—आत्मा के राग द्वेषादि भावों का निमित्त मात्र पाकर आत्म-भिन्न पुद्गल द्रव्य के परमाणु (कार्माण वर्गणाएँ)। स्वयं ही कर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरणादि कर्मों का रूप धारण कर लेते हैं और आत्मा के सुख दुखादि रूप अनुभवन में निमित्त बनने की योग्यता भी प्राप्त कर लेते हैं। जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है और गर्म लोहा पानी को शोष लेता है उसी प्रकार आत्मा के रागादि भावों के निमित्त से पुद्गल कर्मों का आकर्षण व बंध होता है। और जिस प्रकार किया हुआ भोजन उदरस्थ होकर रस रुधिर आदि सप्त धातु रूप स्वयमेव परिणत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के विभाव भावों से आकर्षित पुद्गल कर्म वर्गणाएँ स्वयमेव आठों कर्म रूप परिणमन करती हैं।

(१३)

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति क्यों कर होती है ?

परिणममानस्यचितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्मतस्यापि॥१३॥

सविकारी होता जब चेतन कर रागादि भाव मतिम्लान।
तब निमित्त पुद्गल कर्मोदय ही होता है सर्व प्रधान।
कर्मोदय अरु रागादिक में है निमित्त नैमित्तिक भाव।
बिन उपाधि होता न जीव में राग द्वेष का प्रादुर्भाव ॥

भावार्थ—निश्चय से कर्म बद्ध संसारी आत्मा के चिदात्मक स्वकीय विकार भावों—(मोह राग द्वेषादि) रूप स्वयं ही परिमणन करते हुए इन विकार भावों की उत्पत्ति में पूर्वबद्ध पुद्गल कर्मोदय निमित्त मात्र होता है।

सारांश यह कि जिस प्रकार नवीन पुद्गलों (कार्माण वर्गणाओं) को कर्म रूप धारण कर आत्मा के साथ बंध को प्राप्त होने में आत्मा के रागादिक भाव निमित्त होते हैं वैसे ही इन रागादि भावों की उत्पत्ति में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्व बद्ध कर्मोदय निमित्त होता है। इस भाँति इन दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है।

किसी कार्य के होने में दो प्रकार के कारण हुआ करते हैं। प्रथम अंतरंग (उपादान) दूसरा वहिरंग (निमित्त)। उपादान कारण वह कहलाता है जो स्वयं कार्य रूप परिणत होता है। निमित्त कारण वह कहलाता है जो कार्य की उत्पत्ति में सहचारी, सहकारी या सहयोगी होता है। वस्तु में यह निमित्त और उपादान कारण रूप व्यवहार तभी होता है जब कार्य हो जाय। क्योंकि कार्य के हुए विना यथार्थ रूप में कारण की कल्पना या व्यवहार नहीं किया जा सकता। किसी भी कार्य में दोनों कारण अवश्य हुआ करते हैं। विना दोनों कारणों के कोई भी कार्य नहीं हो सकता। इसी नियम का प्रतिपादन स्वामी समन्तभद्र ने बृहत् स्वयंभू स्तोत्र में निम्न शब्दों में निरूपित किया है।

"बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभावः।
"नैवान्यथा कार्यविधिश्च पुंसां तेनाभिवंद्यः त्वं ऋषिर्बुधानाम्।"

अर्थात् कार्यों में वाह्य (वहिरंग) और इतर (अंतरंग) कारणों की समग्रता का होना (जो कार्योत्पत्ति की नियामक है) द्रव्यगत स्वभाव है। उभय कारणों की समग्रता के विना किसी भी कार्य की उत्पत्ति अन्य विधि से संभव नहीं है। चूंकि आपकी वाणी या दर्शनादि के निमित्त विना भव्य जीवों को सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः हे भगवन्! आप बुद्धिमानों के द्वारा वंद्य हैं।

कार्योत्पत्ति में उपरोक्त नियम सर्वत्र लागू होता है। आत्मा तो रागादि भावों का उपादान कारण है एवं पूर्व वद्ध पुद्गल कर्मों का उदय उनकी उत्पत्ति में निमित्त कारण, तथा नवीन पुद्गलों के कर्म रूप परिणत होने में आत्मा के वर्तमान रागादि भाव निमित्त हैं एवं पुद्गल की कार्माण वर्गणाएँ, उपादान।

(१४)

संसार परिभ्रमण का मूल कारण

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्तइव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म निमित्तज भाव रूप परिणमें स्वयं यद्यपि चिद्रूप ।
वे औपाधिक भाव नहीं है किंतु शुद्ध चैतन्य स्वरूप ।।
यों न कर्म कृत भाव स्वरूपी होकर भी जन बन विभ्रांत
तत्स्वरूप माने निजात्म को, भ्रांति यही भवबीज नितांत ।

भावार्थ :—इस प्रकार कर्म कृत विभाव भावों अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले रागादि विकारों से (जो कि उपाधि स्वरूप हैं) आत्मा का शुद्ध स्वरूप या स्वभाव पृथक् होनेपर भी अज्ञानियों को आत्मा तन्मय (स्वभाव से रागी द्वेषी) प्रतीत होता रहता है और यह प्रतीति ही भव का बीज है ।

जव तक आत्मा अपने अव्यक्त सिद्ध समान शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूला रहकर कर्मोंदय के निमित्त से होनेवाले रागादि विकारों को ही अपना स्वरूप मानता रहता है तव तक वह इन नैंमित्तिक विकारों को वंधन का कारण न मानकर अथवा स्वभाव मानता हुआ उन्हीं में रमा रहता है। उन्हें विकार समझ उनसे वचने और आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन होने का पुरुषार्थ नहीं करता । अतः नवीन कर्म बंधनों में पड़कर संसार का पात्र वना रहता है ।

पूर्व में यह दरशाया गया है कि रागादि भाव आत्मा के ही हैं और अव उन्हें कर्मकृत होने से पर वतलाया है । ऐसी स्थिति में वस्तुतः रागादि भावों को स्व के माना जावे या पर के ? यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है । समाधान यह है कि जैनागम में कोई भी बात किसी दृष्टि या अभिप्राय की मुख्यता से कही जाती है । यहाँ रागादि भावों को आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा पर कहा गया है, अथवा निमित्त की प्रधानता से (उनके नैमित्तिक होने से) भी पर कहा गया है ताकि जीव उन्हें अपना शुद्ध स्वभाव न समझ ले और पहिले उपादान की अपेक्षा उन्हें जीव के कहा गया है—क्योंकि वे जीव में ही होते हैं और जीव के ही होते हैं— किंतु होते कर्मबद्ध अशुद्ध जीव में हैं । वे जीव के शुद्ध स्वभाव नहीं हैं ।

तात्पर्य यह कि इन रागादि विकारों को हेय जान त्याग देने में ही आत्मा का हित है । उन्हें अपना स्वभाव मान कर चलने वाला उनसे कभी विरत नहीं होगा और उन्हें आत्मा से सर्वथा भिन्न समझने वाला भी उन्हें करते रहने में कोई दोष नहीं मानेगा— क्योंकि वह उन्हें पुद्‌गल के मानकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप कर्त्ता होकर भी अपने को सर्वथा अकर्त्ता या निर्दोष मानता रहेगा, जबकि राग द्वेष रूप परिणमन करने से बंध का पात्र होकर सुख दुख वही भोगेगा। यथार्थ में आचार्यों के कथन का अभिप्राय एवं वस्तु स्थिति क्या है, यह समझ लेने पर विरोध का कोई कारण नहीं रह जाता।

(१५)

पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ॥१५॥

तज मिथ्याभिनिवेश उक्त जो है भ्रमजन्य विकृत श्रद्धान—
आत्मिक शुद्ध तत्व अनुभव युत सहज प्राप्त कर सम्यग्ज्ञान,
पुनि स्वरूप में सुस्थिर होकर करना चिदानंद रसपान
मार्ग यही पुरुषार्थसिद्धिका एक मात्र है सूत्र प्रमाण।

भावार्थः—अपनी भ्रमपूर्ण विपरीत मान्यताओं का परित्याग करते हुए आत्म स्वरूप को भलीभांति जान उसी में (आत्मा का स्वयं में) लीन होकर रमजाना, यही पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है।

दूसरे शब्दों में आत्मा की भ्रान्तिहीन श्रद्धा, (सम्यग्दर्शन) यथार्थ ज्ञान और आत्मलीनता (स्वरूपाचरण) रूप सम्यक्चारित्र ही सांसारिक सम्पूर्ण दुखों से दूर होने का मुख्य उपाय है जबकि मिथ्यादर्शन ज्ञान और चारित्र संसार परिभ्रमण जन्य दुखों का मूल कारण है। यदि आत्मा को अपने अर्थ की सिद्धि करना है तो उसे सर्वप्रथम अपने वास्तविक स्वरूप को समझना और जानना ही होगा एवं यह भी जानना होगा कि वह दुखी क्यों है? दुखों से किस प्रकार मुक्त हो सकता है? इस प्रारंभिक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति किये विना अपने लक्ष्य (आत्म शुद्धि) की पूर्ति असंभव है। अतः आचार्य श्री ने सर्व प्रथम साध्य सिद्धि का संक्षेप में मूल उपाय रत्नत्रय घोषित किया है।

(१६)

पुरुषार्थसिद्धयुपाय (मुक्तिमार्ग) में संलग्न व्यक्तियों की पहिचान

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः ॥१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पुरुषार्थ सिद्धि साधन हित मुनिपद ग्रहण करें सम्भ्रांत—
उनकी वृत्ति अ लौकिक रहती पापाचार विहीन नितांत ।
वे संसार शरीर भोग से उदासीन रहकर स्वाधीन—
स्वैराचार विवर्जित होकर रहते स्वात्म साधना लीन ।

भावार्थ :— जो महाभाग इस रत्नत्रय स्वरूप मुक्ति मार्ग का अनुसरण करते हैं उन मुनियों की वृत्ति निरंतर पापक्रियाओं से विमुख होकर भव, तन और भोगों से सर्वथा विरतिरुप अलौकिक हो जाती है। जब आत्मा निर्भ्रान्त होकर अपने और संसार के स्वरूप को भलिभांति समझता हुआ अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने में संलग्न हो जाता है तव उसकी वृत्तियां सहज ही विषयवासनाओं व कषायों से शून्य होकर परम उदासीनता स्वरूप वीतरागता की ओर उन्मुख होकर लौकिक व्यक्तियों से विलकुल निराली बन जाती हैं। उसे अपनी सांसारिक ख्याति लाभ, पूजा प्रतिष्ठा आदि की कोई चाह नहीं रह जाती है, तभी वह आतमा को परमात्मा बनाने में सफल होता है।

(१७)

उपदेश का क्रम

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ।।१७।।

हैं सुग्राह्य मुनि पद ही उत्तम भव्य जीव हित सर्वप्रधान—
गुरु जिसके धारण करने का दें प्रथमोपदेश मतिमान् ।
शिष्य न मुनि पद ग्रहण करै यदि समझाने पर बारंबार—
एक देश व्रत पालन का तब दें उपदेश शिष्यहित सार ।

भावार्थ—जो व्यक्ति उपरोक्त ससस्त विरति रूप मुनि पद को धारण करने के उपदेश को बारंबार सुनकर भी यदि कदाचित् मुनिपद को धारण नहीं करे तव उपदेश दाता को चाहिये कि वह श्रोता की मुनिव्रत धारण करने संबंधी असमर्थता को देखते हुए उसकी रुचि के अनुसार एक देश विरतिरूप श्रावक धर्म का उपदेश दे, ताकि वह पूर्ण नहीं तो अंश रूप में ही मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ हो जावे।

Gaṇesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१८/१९)

उपदेश के उक्त क्रम को भंग करने वालों की भर्त्सना और दण्ड का निर्णय

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ।।१८।।

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्साहमानोऽति दूरमपिशिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ।।१९।।

प्रथम न कर मुनिधर्म देशना दरशावे गृहि धर्म अजान—
वह गुरु निश्चित प्रायश्चित का भागी है जिन वचन प्रमाण ।
यदि सुदूर तक उत्साहित है शिष्य स्वयं जो निष्ठावान्—
अक्रम कथन से तृप्त अपद में वंचित होता वह संज्ञान ।

भावार्थ—जो तुच्छ बुद्धि (उपदेशदाता) मुमुक्षु को उक्त क्रम भंग कर अर्थात् प्रथम मुनिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का (श्रावकों के व्रतों को धारण करने का) उपदेश देता है उसे सिद्धांत में दण्डनीय कहा गया है।

इसका वस्तुतः कारण यह है कि जो शिष्य आत्म कल्याण की पवित्र भावना से अत्यन्त उत्साहित होकर अपने आपको समग्रतया मुक्ति मार्ग में समर्पित कर आत्म साधना करने को उद्यत था वह प्रारंभ में ही अणुव्रत रूप श्रावक धर्म को सुन उसी में संतुष्ट और तृप्त होकर रह जाता है और इस प्रकार मुनिधर्म के पालन से वंचित हुआ उस दुर्मति उपदेश दाता के द्वारा ठगा जाता है। अतः सिद्धांत में प्रथम मुनिधर्म के उपदेश देने का ही विधान किया गया है।

(मुनिधर्म पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, पंचेद्रिय विजयादि रूप है जिसका वर्णन संक्षेप में ग्रंथकार आगे करेंगे।)

(२०)

मुनिधर्म धारण करने में असमर्थ व्यक्ति का कर्त्तव्य

एवं सम्यग्दर्शन बोध चरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्ष मार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ।।२०।।

करना चाहें एक देश भी धर्माराधन जो मतिमान्—
ग्राह्य उन्हें भी मुक्ति मार्ग है दर्शन ज्ञान चरित्र प्रधान ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मात्र ज्ञान, दृग या चरित्र से प्राप्त न होता पद निर्वाण।
अतः त्रयात्मक ही सुसेव्य है श्रावकजन हित शक्ति प्रमाण।

भावार्थः—जो मुमुक्षु मुनिधर्म धारण करने में असमर्थ हैं उन्हें भी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप जो मुक्ति का मार्ग है—अर्थात् पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है उसी का आलंबन लेकर यथाशक्ति सेवन करना चाहिए। श्रावक धर्म मुनिधर्म के पालन करने का मुमुक्षु के लिए अभ्यास मात्र है और यह उन व्यक्तियों के लिए है जो चाहते हुए भी अपनी असमर्थता के कारण मुनिधर्म धारण नहीं कर पाते जो कि मुक्ति प्राप्त करने का पूर्ण और साक्षात् उपाय है।

प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि आत्म कल्याण का उत्सर्ग मार्ग मुनिधर्म है, परन्तु वह न सध सके तो अपवाद मार्ग के रूप में मुमुक्षु को श्रावकधर्म स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है।

(२१)

रत्नत्रय स्वरूप मुक्ति मार्ग की प्राप्ति का क्रम

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

रत्नत्रय में प्रथम गृही को सत्प्रयत्नकर दोष विहीन—
सम्यग्दर्शन ग्राह्य विहित है मूढ़ दृष्टि तज सर्वांगीण।
यतः सुदर्शन होने पर ही समुपलब्ध हो सम्यग्ज्ञान।
तत्पूर्वक चारित्र उदित हो पाने पावन पद निर्वाण,।

भावार्थः—रत्नत्रय में सर्व प्रथम परिपूर्ण प्रयत्न कर सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का आश्रय लेना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रकट हो सकते हैं। बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान सम्यक् नहीं होता और सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र की ओर प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। अतः सर्व प्रथम सम्यग्दृष्टि बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२२)

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्म रूपं तत् ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवाजीवास्रव सह संवर, बंध निर्जरा मोक्ष प्रधान–
तत्वार्थों की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन धर्म महान।
विपरीताभिनिवेश रहित वह आत्म रूप ही है अमलीन–
निशंकितादिक अंगपुरस्सर जो सुग्राह्य है परम प्रवीण !

भावार्थः–जीवाजीवादिक तत्वों का विपरीताभिनिवेश अर्थात् तत्वार्थों के विषय में विपरीत मान्यताओं से रहित होकर आत्मतत्व को भली-भाँति यथार्थ रूप में समझकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मभिन्न वस्तु न होकर अपना ही स्वरूप या गुण है–जो मिथ्यात्व मोह के दूर होने पर प्रकट होता है।

यह जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के कुचक्र में फँसा रह कर अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ है तथा शरीर को आत्मा एवं इन्द्रिय भोगों में सुख की कल्पना कर राग-द्वेषादि रूप दुखदायक आस्रव भावों को सुखदायक तथा गुप्ति, समिति क्षमादि धर्म रूप आचरण को दुखदायक मानता हुआ संवर निर्जरा रूप वास्तविक सुख साधनों से विमुख हुआ संसार परिभ्रमण कर दुखी बना हुआ है। अतः जब यह प्रबुद्ध होकर "मैं शरीरादि से भिन्न चैतन्य स्वरूप ज्ञानानंदमयी आत्मा (जीवतत्व) हूँ, तथा शरीर इन्द्रियाँ एवं इन्द्रिय विषय मेरे स्वरूप से भिन्न अजीव हैं और राग-द्वेषादि मोहजन्य आत्मा के भाव विकार हैं तथा कर्मास्रव व बंध के कारण हैं एवं गुप्ति समिति धर्मादि की साधना पूर्वक तप और ध्यान संवर निर्जरा के साधन हैं तथा इन्हीं से सांसारिक समस्त दुखों एवं बंधनों से मुक्त होकर आत्मा परमात्मा बन सकता है–अपने पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकता है" इस प्रकार सात तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करता है तभी वह सम्यग्दृष्टि बनता है। सप्त तत्वों का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है और इनका विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन।

सम्यग्दर्शन अष्ट अंगों द्वारा प्रकट होता है जिनका विवरण निम्न प्रकार हैः–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२३)

निःशंकित अंग

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ।।२३।।

यतः अनेकांतात्मक हैं सब वस्तु जात जिन वचन प्रमाण ।
अतः तदात्मक ही सुदृष्टिका अंतस् में हो दृढ़ श्रद्धान ।
'है यह सत्य नहीं है अथवा श्री जिन कथित उक्त सिद्धांत-
यों शंका करना न तनिक भी निःशंकित है अंग नितांत ।

भावार्थः—वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने सम्पूर्ण वस्तुओं का स्वरूप अनेकांतात्मक निरूपित किया है। यह सत्य है या नहीं ? इस प्रकार शंका नहीं करना यह सम्यग्दृष्टि का प्रथम निःशंकित अंग है।

प्रत्येक वस्तु स्वभावतः अनंत गुणधर्मों व पर्यायों का पुंज है। एकांत मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञान या पक्ष व्यामोह वश उसे सर्वथा नित्य या अनित्य रूप अथवा सद्रूप या असद्रूप, भेद रूप या अभेद रूप मानकर भ्रमित होता है। सांशयिक मिथ्या दृष्टि अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप के संबंध में संशय या संदेह करता हुआ अनिश्चय के झूले में झूलता है, वह सोचता है कि वस्तु शायद नित्य है या अनित्य है ? उसे न नित्यता का निश्चय होता और न अनित्यता का। जब कि सम्यग्दृष्टि जीव प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तर्क आदि प्रमाणों से वस्तु स्वरूप को अनेकांतात्मक जान उस पर दृढ़ श्रद्धा करता है, जो शंकाओं से परे होती है।

(२४)

निःकांक्षित अंग

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाद दूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत् ।।२४।।

इस जीवन में बाह्य विभव की चाह न करना-जान प्रपञ्च ।
पर भव में भी इन्द्र, चक्र धर पद की अभिलाषा नहिं रंच ।
सम्यग्दर्शन का प्रतीक है निःकाँक्षित यह अंगप्रधान ।
विषय भोग वाँछा ही भव का यतः मूल है सूत्र प्रमाण ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः–सम्यग्दृष्टि को इस जन्म में धन संपदादि सांसारिक विभवों की तथा परलोक में नारायण चक्रवर्ती या राजा महाराजादि पदों की चाह न करना एवं एकांतवाद से दूषित पर समयों (मत मतांतरों) को (जो नितांत अज्ञान और भ्रमपूर्ण कल्पनाओं पर आधारित हैं) कांक्षा न करना चाहिये।

मिथ्या दृष्टि जीव सांसारिक विषय भोगों में सुख की कल्पना किये रहता है और इसी लिये वह न्याय अन्याय, पाप-पुण्यादि का कुछ भी विचार न कर सांसारिक वैभवों से संपन्न होने और उनके भोगने में सतत प्रयत्नशील बना रहता है। साथ ही मोह वश परलोक में भी राजा महाराजा या चक्रवर्तियों के वैभवों पर मुग्ध हुआ उन्हीं की कामना करता है। किंतु सम्यग्दृष्टि जीव इन पदों और विषय भोगों की निःसारता का अपनी पैनी दृष्टि से अनुभव कर उनसे सदा विरक्त और अनासक्त बना रहता है। यह अनासक्ति भाव ही सम्यग्दर्शन का दूसरा निःकांक्षित अंग है।

(२५)

निर्विचिकित्सा अंग

क्षुत्तृष्णा शीतोष्ण प्रभृतिषु नाना विधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ।।२५।।

क्षुधा-तृषा वा शीतोष्णादिक बाधाएँ हों विविध प्रकार–
मल मूत्रादि वस्तुओं प्रतिभी ग्लानि युक्त हों स्वगत विचार।
ये करणीय कदापि नहीं है यतः द्रव्य सब स्वतः स्वभाव–
नाना गुण पर्यायमयी हैं अतः व्यर्थ उन प्रति दुर्भाव।

भावार्थः–क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण आदि अनेक प्रकार के भावों में तथा पुरीषादि (विष्टा-मल मूत्रादि) द्रव्यों में ग्लानि न करना चाहिए, वस्तु स्वभाव को समझते हुए किसी से ग्लानि न करना ही सम्यग्दर्शन का तृतीय निर्विचिकित्सा अंग है।

सम्यग्दृटि प्रत्येक वस्तु को परिणमनशील मानता हुआ उसके नाना प्रकार के परिवर्तनों को उसका स्वभाव जानता हुआ उनमें समत्व की भावना से उदासीन बना रहता है। जब कि मिथ्या दृष्टि पदार्थों के अनुकूल प्रतिकूल परिवर्तनों और संयोगों को इष्ट-अनिष्ट मान उनमें राग द्वेष ग्लानि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि करने लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव दीन हीन दुखी जीवों तथा मुनियों के मलिन शरीर को देख कर उनसे घृणा न करता हुआ उनकी यथा योग्य सेवा कर अपने को धन्य मानता है।

(२६)

अमूढ़ दृष्टि अंग

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्व रुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६॥

देव-शास्त्र-समयाभासों वा लोक रूढ़ियों प्रति त्रय काल
मूढ़ दृष्टि तज निर्णय लेना है अमूढ़ दृष्टित्व विशाल ।
देवाभास देव नहिं होता, शास्त्र नहीं है शास्त्राभास ।
कुरूढ़ियाँ भी धर्म नहीं है, यों सुदृष्टि करता विश्वास ।

भावार्थः—तात्विक रुचिवान् सम्यग्दृष्टियों को समस्त लोकाचारों शास्त्राभासों, धर्माभासों और देवताभासों के प्रति अंधानुसरण कर उन्हें सत्य न मानकर गुण दोषों की पहिचान द्वारा निर्णय कर ही उन पर श्रद्धा करना चाहिये। अनेक रूढ़ियाँ भी—जिनमें सार नहीं होता—धर्म के नाम पर प्रचलित हो जाती हैं तथा विषय कषाय पोषक एवं एकांतवाद से दूषित कल्पित सिद्धांतों के समर्थक अनेक शास्त्र भी लोक द्वारा हिताहित की परीक्षा किये विना मान्यता को प्राप्त हो जाते हैं और इसी प्रकार कुछ स्वार्थी व्यक्ति अपनी ख्याति, लाभ एवं पूजा-प्रतिष्ठा के हेतु असंयमी तथा विषय-कषायी होते हुए भी अपने भोले भक्तों द्वारा पूजे जाने लगते हैं तथा वे अपने आपको आचार्य-यहाँ तक कि भगवान् तक घोषित कर अपने कल्पित और मिथ्या मतों का प्रचार प्रसार करते देखे जाते हैं; किंतु सम्यग्दृष्टि गुण दोषों द्वारा परीक्षा करता हुआ उनके मायाजाल में नहीं फँसता। यही अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

(२७)

उपबृंहण या उपगूहन अंग

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्म धर्म संबर्द्धनीय है मार्दवादि भावों के द्वार :
काम क्रोध छल लोभ मदादिक त्याज्य विहित हैं विविध विकार ।
पर दूषण अवलोक यत्नतः आच्छादन करना सुविचार—
यह उपबृंहण या उपगूहन अंगविहित है परम उदार ।।

भावार्थः—आत्म विकासोन्मुख सम्यग्दृष्टियों को मार्दवादि धर्म भावना के द्वारा अपने धर्म की सतत बृद्धि करते रहना चाहिये । साथ ही दूसरों के ज्ञात-अज्ञात दोषों को उजागर भी न करना चाहिए। यह उपगूहन-अंग कहलाता है। इसका दूसरा नाम उपबृंहण भी है। मार्दवादि भावना से शून्य जो व्यक्ति अभिमान वश अपने को वड़ा मान कर ज्ञानादि गुणों का गर्व करने लगता है उसके गुणों के विकास का द्वार जीवन में सदा के लिये बंद हो जाता है; किंतु जो अपने में गुणों की कमी को अनुभव करता हुआ अपने में विद्यमान दोषों और कमियों को दूर करने को प्रयत्नशील वना रहता है—वह उन्नति के शिखर पर पहुँच कर अवश्य ही समय आने पर आत्मा को परमात्मा बना लेता है। इस तथ्य को सम्यग्दृष्टि भलीभाँति समझता हुआ अपने दोषों का ह्रास एवं गुणों का विकास करने में सतत उद्यमशील बना रनता है। उसकी यह उद्यमशीलता व परके दोषों की उपेक्षा ही सम्यग्दर्शन का उपगूहन या उपबृंहण अंग कहलाता है।

(२८)

स्थिति करण अंग

काम क्रोध मदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्यास्थितिकरणमपिकार्यम् ।।२८।।

स्वयं तथा-धर्मीजन कोई लोभ मोह वश वन दिग्भ्रांत
न्यायमार्ग से विचलित होकर पतित हो रहा हो संभ्रांत
तदि तन-मन-धन-युवित पुरस्सर है सुदृष्टि कर्त्तव्य विशाल—
स्वयं याकि उस धर्म वंधु को पतित न होने दें तत्काल ।

भावार्थः—स्वयं को तथा अन्य सह धर्मी बंधुओं को काम, क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय से या दूसरों के वहकाने में आकर धर्म मार्ग (सुश्रद्धा या चरित्र स्वरूप सन्मार्ग) से विचलित होता हुआ देखकर जैसे भी संभव हो-उनकी तन मन धन से सहायता कर स्थिति करण करना चाहिये । प्रायः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखा जाता है कि धर्मात्मा सज्जन पुरुष भी अज्ञान या कषाय के वश होकर धर्म मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। उन्हें या स्वयं को भी भ्रष्ट होता हुआ जान सन्मार्ग में स्थिरीकरण करने का जो प्रयत्न किया जाता है–वही स्थितिकरण अंग कहलाता है।

(२९)

वात्सल्य अंग

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालंब्यम् ।।२९।।

परम अहिंसा अरू रत्नत्रय धर्म विहित है सार्वजीवन ।
हिंसा मात्र त्याज्य है दुखकर राग द्वेष परिणाम मलीन ।
अतः धर्म एवं धर्मी प्रति गो स्ववत्सवत् सह सम्मान–
सतत निष्कपट सहज प्रीति ही दर्शनांग वात्सल्य प्रधान ।

भावार्थ:–अहिंसा में, मुक्ति सुख के साधन भूत सद्धर्म में, तथा सम्पूर्ण धर्मात्मा पुरुषो के प्रति शुद्ध हृदय से वात्सल्य भाव को वनाए रखना चाहिए। धर्मी और धर्म के प्रति श्रद्धा मूलक आंतरिक अनुराग ही वात्सल्य अंग कहा गया है।

जैसे गाय या हिरणी को अपने वत्स के प्रति विना किसी अपेक्षा के आंतरिक प्रेम हुआ करता है–जिस से वह समय आने पर उसके संरक्षण हित अपने प्राण तक न्योछावर करने को तत्पर हो जाती है। ऐसा ही अनुराग सम्यग्दृष्टियों को अपने धर्म, धर्मो एवं धर्मायतनों के प्रति स्वभावतः रहा करता है। परम पूज्य मुनि श्री विष्णुकुमारजी ने तो इसी धार्मिक अनुराग वश आचार्य अकंपन एवं उनके संघस्थ ७०० साधुओं को अपनी तपस्या को भंग कर भी संरक्षण प्रदान किया था। वात्सल्य अंग का यह उदाहरण सम्यग्दृष्टियों के लिये सदा ही मार्ग दर्शन देता रहता है।

(३०)

प्रभावना अंग

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिन-धर्मः ।।३०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नत्रय के दिव्य तेज से तत्परतायुत प्रथम प्रवीण !
है प्रभावना योग्य निरंतर आत्म स्वयं ही सर्वांगीण ।

सद्विद्या के चमत्कार वा पूजा दान तपोबल द्वार–
श्री जिन धर्म प्रभावनीय है जीवमात्र हित परम उदार ।

भावार्थः–रत्नत्रय के तेज से अपने आत्मा को निरन्तर प्रभावित करना चाहिए । तथा दान, तपस्या जिन पूजा विद्या अथवा अपने ज्ञान द्वारा लोक में जिन धर्म की प्रभावना करना चाहिए । 'चमत्कार को नमस्कार' इस लोकोक्ति के अनुसार प्रायः भोले लोग चमत्कार प्रिय एवं श्रद्धालु हुआ करते हैं । अतः धर्मज्ञान शून्य अज्ञानांधकार में निमग्न सर्वसाधारण को सम्यग्ज्ञान प्रदान कर धर्म के मार्ग पर लगाना तथा असाधारण दान देकर, या जिन पूजनादि विशेष महोत्सवों तथा त्याग तपस्यादि अन्यान्य कार्यों द्वारा प्रभावित कर धर्म का प्रचार प्रसार करना ही सम्यग्दृष्टियों का प्रभावना अंग कहलाता है ।

जैसे मानव शरीर में अष्ट अंग होते हैं और उनमें से किसी अंग की न्यूनता में वह विकलांग कहलाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के उपरोक्त अष्टांग हैं । इन में से किसी भी अंग की कमी सम्यग्दर्शन को भी अपूर्ण या विकलांग बना देती है । इस प्रसंग में परमपूज्य स्वामी समंत भद्र का कथन विशेष महत्वपूर्ण है । वे कहते हैंः–

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्म सन्ततिम् ।
नहि मंत्रोऽक्षर न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ।।

– रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थात् जिस प्रकार एक अक्षर से भी न्यून मंत्र विष वेदना को दूर करने में असमर्थ हो जाता है उसी प्रकार अंग हीन सम्यग्दर्शन भी संसार की परिपाटी (जन्म मरण परंपरा) को दूर करने में समर्थ नहीं होता ।

अतः सम्यग्दृष्टि का परम कर्त्तव्य है कि वह इन अंगों का भली भाँति परिपालन कर अपने दर्शन गुण को पूर्ण बनावे । इनके परिपालन करने को किन्हीं आचार्यों ने सम्यक्त्वाचरण की संज्ञा भी दी है ।

।। इति सम्यग्दर्शनाधिकारः ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय अध्याय

(सम्यग्ज्ञानाधिकारः)

(३१)

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा

इत्याश्रित सम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ।।३१।।

अष्ट अंग युत् सम्यग्दर्शन जिसने प्राप्त किया अम्लान–
उस सुदृष्टि द्वारा सुसेव्य है सतत स्वात्म हित सम्यग्ज्ञान।
यह आराधनीय है रुचि से परंपरा-गुरु-आगम द्वार,
नय प्रमाण वा युक्ति पुरस्सर अनेकांत तत्वार्थ विचार।

भावार्थः–जिन जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है उन्हें आत्म हित हेतु निरंतर जिनागम और आचार्यों की आम्नाय तथा प्रमाण नय जन्य युक्तियों द्वारा विचार पूर्वक सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए।

(३२)

सम्यग्दर्शन व ज्ञान में अंतर

पृथगाराधनमिष्टं दर्शन सहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ।।३२।।

यदपि जीव को संपादित हो सद्दर्शन सह सम्यग्ज्ञान।
फिर भी दर्शन और ज्ञान द्वय भिन्न साध्य हैं सूत्र प्रमाण।
भिन्न लक्षणों द्वारा इनमें यतः पृथक्ता होती सिद्ध।
जान पना है चिन्ह ज्ञान का, दर्शन का श्रद्धान प्रसिद्ध।

भावार्थः–यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है फिर भी उसकी सविशेष पृथक् रूप में आराधना करना इष्ट है। क्योंकि दर्शन से ज्ञान भिन्न है। उसकी भिन्नता दोनों के पृथक् पृथक्-लक्षणों के भेद से सिद्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेष:—दर्शन (श्रद्धा) और ज्ञान दोनों ही आत्मा के गुण हैं। ये सदा ही प्रत्येक आत्मा में विद्यमान रहते हैं; किंतु संसारी जीव के ये गुण मोह कर्म के निमित्त से विकारी बने हुए हैं। अत: सविकारी दर्शन (श्रद्धा) मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन एवं मिथ्यादर्शन सहित ज्ञान मिथ्या ज्ञान की संज्ञा पाते हैं। मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर तत्वों का यथार्थ श्रद्धान हो जाने से दर्शन सम्यक् हो जाता है और सम्यक्दर्शन पूर्वक ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। जैसे अंधकार में न तो पदार्थों का यथार्थ दर्शन होता है और न ज्ञान, वैसे ही मोहांधकार में निमग्न प्राणियों को भी वस्तु स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान नहीं होता।

(३३)

दर्शन के पश्चात् ही ज्ञान की आराधना का कारण

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

कारण-कार्य भेद लक्षित हो इन दोनों में बाध विहीन।
सम्यग्ज्ञान कार्य है निश्चित, सद्दर्शन कारण अमलीन।
अत: प्रथम सम्यग्दर्शन ही है आराधनीय सर्वांत।
तदनंतर संसाधनीय है विधि वत् सम्यग्ज्ञान नितांत।

भावार्थ:—जिनेन्द्र भगवान् ने सम्यग्दर्शन को कारण और ज्ञान को कार्य रूप में प्रतिपादन किया है। अत: सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही ज्ञान की आराधना—(उपासना) करना इष्ट है।

कारण के विना कार्य नहीं होता अत: कार्य की उत्पत्ति में उसके कारणों का विशेष महत्व है और इसी लिये ज्ञान रूप कार्य में उसके कारण सम्यग्दर्शन की प्रथम उपासना करने की प्रेरणा की गई है। यद्यपि दोनों युगपत् उत्पन्न होते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती अत: प्रथम सम्यग्दर्शन और तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञान को आराधनीय कहा गया है।

(३४)

दर्शन-ज्ञान में दृष्टांत पुरस्सर कारण-कार्य सिद्धि

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथा दीप एवं प्रकाश द्वय एक समय ही हों उत्पन्न ।
कारण कार्यपना दोनों में फिर भी होता है निष्पन्न ,
त्यों ही दर्शन-ज्ञान उभय में कारण कार्यपना अम्लान
समकालिक होने पर भी है स्वयं सिद्ध जिन वचन प्रमाण ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन और ज्ञान के एक साथ उत्पन्न होने पर भी दोनों में कारण कार्यपना दीपक और प्रकाश की भाँति भले प्रकार घटित हो जाता है। जैसे दीपक का जलना और प्रकाश का होना एक साथ एक काल में ही होता है। फिर भी दीपक कारण है और प्रकाश उसका कार्य, क्योंकि प्रकाश दीपक से ही उत्पन्न होता है–प्रकाश से दीपक नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन पूर्वक ही ज्ञान में सम्यक्‌पना आता है, सम्यग्दर्शन के पूर्व ज्ञान कुज्ञान या अज्ञान ही बना रहता है।

(३५)

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्य्ययानध्यवसाय विविक्तमात्मरूपं तत् ।।३५।।

वस्तु स्वरूप अनेकान्तात्मक है स्वभावतः ही सर्वांत–
न्यूनाधिकता रहित यथावत् जाने ज्ञान वही निर्भ्रांत
संशय, विभ्रम, मोह विवर्जित आग्रहादि दूषण परिहीन–
सम्यग्ज्ञान आतम का सद्‌गुण स्वतः सिद्ध है सार्वजनीन ।

भावार्थः—सत्स्वरूप अनेकांतात्मक वस्तु तत्व को संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जान लेना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान आत्मा का ही स्वभाव या गुण है–आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। पूर्व में यह दरशा दिया है कि जगत के सम्पूर्ण पदार्थ अनेकांतात्मक अर्थात् अनेक गुण, धर्म व पर्यायात्मक हैं। अतः किसी पदार्थ को सर्वथा एकान्तात्मक मानकर हठ करना एकान्त मिथ्यात्व है। इसके सिवाय ज्ञान की निर्दोषता के लिये अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूप में संशय भी न करना चाहिए और न ज्ञान में विपरीतता ही आना चाहिए। इसके साथ ही जानकारी में अनिश्चितता या अस्पष्टता भी न रहना चाहिए। तभी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहला सकता है। स्थूल रुप में। सम्यग्ज्ञान के तीन दोष माने गये हैं:—१. संशय, २. विपर्यय, और ३. अनध्यवसाय ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संशयः—"भगवान् ने जो वस्तु का स्वरूप अनेकांतात्मक प्रतिपादन किया है; वह सत्य है या नहीं" इस प्रकार सन्देह करना संशय कहलाता है।

विपर्ययः—वस्तु जो जैसी है उससे विपरीत जान लेना विपर्यय है। जैसे जड़ शरीर को आत्मा मानना।

अनध्यवसायः—जानने की इच्छा के अभाव में 'कुछ होगा' इस प्रकार जो अनिश्चित या अस्पष्ट ज्ञान होता है। वह अनध्यवसाय कहलाता है।

इन तीनों दोषों से रहित होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

(३६)

अष्टांग सम्यग्ज्ञान की आराधना

ग्रन्थार्थोभयपूर्णम् काले विनयेनसोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

शब्द, अर्थ एवं उभयात्मक यथाकाल जिन सूत्र प्रमाण—
सविनय, सुस्थिरमन तत्वों को सर्वांगीण यथावत् जान—
बहु सम्मान पुरस्सर, गुरु का नाम उजागर कर मतिमान्।
सर्वांगों संयुक्त निरंतर साधनीय है सम्यग्ज्ञान ॥

भावार्थः—ग्रन्थों (शब्दों) का, अर्थ का, या ग्रन्थ और अर्थ दोनों का उभय रूप में यथा समय, विनयपूर्वक, सम्मान करते हुए, धारणा युक्त, अपने गुरु के नाम को न छिपा कर सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। ज्ञान की आराधना के ये जो अष्ट अंग हैं उनका विवरण निम्न प्रकार है:—

१. ग्रन्थ के शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना।

२. ग्रन्थ के शब्दों के अर्थ को (विषय को) यथार्थ रूप में समझना।

३. शब्द और अर्थ दोनों को सम्यक् रूप में जानना।

४. सामायिकादि के तथा सूर्य ग्रहणादि के काल को टाल कर स्वाध्याय करना।

५. विनय और शुद्धिपूर्वक उच्च स्थान पर शास्त्र को विराजमान कर पढ़ना।

६. मन लगाकर ध्यानपूर्वक मनन करते हुए पढ़ना या सुनना।

७. गुरुओं और विद्वानों का यथायोग्य सम्मान करना।

८. अपने गुरु या ग्रन्थ का—जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ हो—नाम न छिपाना।

॥ इति सम्यग्ज्ञानाधिकारः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीय अध्याय

(३७)

सम्यक्चारित्रधारण करने की प्रेरणा

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदित तत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक् चारित्रमालम्ब्यम् ।।३७।।

जिनका दर्शन मोह विलय को प्राप्त हो गया चिरकालीन—
तत्वार्थों को जान यथावत् दर्शन-ज्ञान हुआ भ्रम हीन ।
दृढ़ प्रतिज्ञ उन भव्य जनों कर है सुग्राह्य चारित्र महान—
सहज स्वात्म हित संपादन कर पाने पावन पद निर्वाण ।

भावार्थः—दर्शन मोह के नष्ट हो जाने से जिनकी दृष्टि सम्यक् हो गई है और जिन्होंने सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर तत्त्वार्थों के स्वरूप को यथार्थ रूप में जान लिया है ऐसे निष्ठावान् दृढ़ श्रद्धानी पुरुषों द्वारा सम्यक् चारित्र की सतत आराधना करनी चाहिए।

सम्यग्दर्शन और ज्ञान के हो जाने पर केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए कि मैं तत्त्व दृष्टि और ज्ञानी बन गया हूँ, यही बहुत है; क्योंकि अभी तो (सम्यग्दर्शन और ज्ञान के द्वारा) केवल उपादेय स्वरूप अपने लक्ष्य (मोक्ष) एवं उसके मार्ग का ज्ञान ही हुआ है। अभी तक जिन सांसारिक दुःखों के पथ पर चल रहे थे उसका एवं जिस अभीष्ट सुख को प्राप्त करना है उसका मात्र ज्ञान हो जाने से दुःखों का नाश और सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः आचार्य प्रेरणा करते हैं कि अब उस मार्ग पर अग्रसर होओ और दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ते रहो जिससे पुरुषार्थ की भलीभाँति सिद्धि हो सके। जैसे रोगी को औषधि की जानकारी और उस पर श्रद्धा हो जाने मात्र से रोग दूर नहीं होता इसके लिये औषधि का सेवन करना अनिवार्य है वैसे ही तत्त्वदर्शी और ज्ञानी को तदनुकूल आचरण करना भी अपेक्षित और अनिवार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३८)

ज्ञान पूर्वक चारित्राराधना का कारण

नहि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ।।३८।।

ज्ञान बिना चारित्र कभी नहिं सम्यक् पद पर हो आसीन--
यों सद् ज्ञान पुरस्सर प्रभु ने सेव्य कहा चारित्र, प्रवीण !

सम्यग्ज्ञानी का चरित्र ही भव संतति का पर्यवसान--
करने की क्षमता पाता यों प्रथम सेव्य है सम्यग्ज्ञान ।

भावार्थः--यतः सम्यग्ज्ञान हुए विना चारित्र सम्यक् नहीं हो पाता इसीलिए सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र की आराधना करने का निर्देश दिया गया है।

यद्यपि अपनी-अपनी समझ के अनुसार संसार के प्राणी अनादिकाल से सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा करते हैं; किन्तु यथार्थ में सुख क्या है, कहाँ है, और वह कैसे प्राप्त होगा तथा दुःख क्या है, क्यों है और उसका कैसे विनाश होगा, इन बातों का यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान न होते से वे मिथ्या व काल्पनिक प्रयत्न करने के कारण सफल (सुखी) नहीं बन पाते, प्रत्युत् अन्धकार में भटकने वाले मार्ग भ्रष्ट पुरुष के समान दुःखों के पात्र ही बने रहते हैं। इसी कारण उनका आचरण (सुख पाने का प्रयत्न) मिथ्या चारित्र कहा जाता है। परन्तु जब भी यथार्थ में उन्हें तत्त्व दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है तभी वे वास्तविक आत्मिक सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय जान कर मिथ्या मार्ग के त्याग पूर्वक मोक्ष मार्ग के पथिक वन दुःखों से मुक्ति पाने में सफल होते हैं। अतः सम्यक् श्रद्धान व सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही चारित्र की आराधना करने की प्रेरणा की गई है।

(३९)

सम्यक्चारित्र क्या है ?

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोग परिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।।३९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन वच काय तथा कृत कारित अनुमोदन कर सर्व प्रकार—
पापों का परिहार किये ही हो चारित्र उदित अविकार ।
विषय कषाण वासना विरहित भव तनु योग विरक्ति स्वरूप—
आत्म रूप ही है वह निर्मल वीतरागता रूप अनूप ।

भावार्थः—क्योंकि मन-वचन-काय सम्वन्धी समस्त पापों के परित्याग करने से ही सम्यक्चारित्र का प्रादुर्भाव हुआ करता है, जो कि सम्पूर्ण कषायों से रहित, संसार से उदासीनता रूप निर्मल वीतराग भावमयी आत्मा की ही परणति है। अतः जिन्हें आत्मा का और उसके दुःखों के कारण पापों तथा कषायों की हेयता एवं सुख स्वरूप वीतराग भावों की उपादेयता का ज्ञान नहीं है वे पापों और कषायों का परित्याग क्यों करेंगे, और जब तक इनका पूर्णतया त्याग न होगा तब तक संसार से विरक्तिपूर्वक सुख स्वरूप वीतरागता की प्राप्ति कैसे होगी ? अतः इन्हें सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही चारित्र की उपासना करने का निर्देश दिया गया है।

(४०)

चारित्र के भेद

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।।४०।।

हिंसा अनृत अब्रह्म परिग्रह पर द्रव्यापहरण अध जान—
विरति भाव युत त्याग किये ही हो चारित्र उदित अम्लान ।
सकल विकल द्वय नाम भेदकर वह प्रवीण ! है उभय प्रकार ।
जिसके धारण किये विना नहि हो पुरुषार्थ सिद्धि साकार ।

भावार्थः—हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) एवं परिग्रह स्वरूप पंच पापों से पूर्णतया तथा एक देश विरक्त होने से चारित्र निष्पन्न हुआ करता है। वह पूर्ण विरति एवं एक देशविरति रूप दो प्रकार का है।

हिंसादि पंच पापों के त्याग बिना आत्मा की कषाय रहित वीतराग शुद्ध परणति नहीं हो सकती, अतः आत्मा को निःकषाय बनाने के लिए प्रथम पंच पापों से विरक्तिपूर्वक उनका त्याग करना अनिवार्य है। जब पापों से पूर्णतया विरक्ति हो जाती है तब सम्पूर्ण पापों का त्याग रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकल चारित्र होता है और एक देश पापों के त्याग से विकल चारित्र होता है। जो महाव्रत और अणुव्रत रूप है।

(४१)

चारित्र के पात्र और स्वामी

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।।४१।।

पूर्णतया पापों का करते जो सुदृष्टि सम्यक् परिहार–
वे यतिवर शुद्धोपयोग धर समयसार बन रहें उदार ।
यदि परिपूर्णतया पापों को त्याग सके नहिं जन सम्भ्रांत–
तदि तज एक देश ही विधिवत् बने उपासक गृही नितांत ।

भावार्थः—पंच पापों के पूर्णतया त्याग में निरत शुद्धोपयोग में संलग्न समयसार भूत (शुद्धात्म स्वरूप निमग्न) मुनिराज सकल चारित्र के धनी हुआ करते हैं और जो पापों से एक देश विरतिपूर्वक उनका आंशिक त्याग ही करते हैं उस दशा में वे उपासक या श्रावक कहलाते हैं। आगे पांचों पापों का हिंसा में ही समावेश हो जाता है—ऐसा सिद्ध करते हैं।

(४२)

पंच पाप हिंसा के ही अंग हैं

आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेवहिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।४२।।

अनृतादिक जो पाप विहित हैं वे सब तात्त्विक दृष्टि प्रमाण–
हिंसा ही हैं आत्मघात नित करते हैं जो एक समान ।
अनृत, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह, हिंसा एवं पंचप्रकार–
शिष्यों के प्रति बोध हेतु सब उदाहरण हैं एक प्रकार ।

भावार्थः—यतः असत्य (अनृत वचन), स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह रूप जो पाप के भेद किये गये हैं वे सब ही आत्मा के निज स्वभाव वीतराग भाव (आत्म शांति और निराकुलता रूप परिणाम) के घातक हैं अतः सब हिंसा ही हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि सभी पाप हिंसा हैं तो पापों के पाँच भेद क्यों किये गये? इसके उत्तर स्वरूप आचार्य श्री कहते हैं कि पापों के अनृत वचनादि रूप पाँच भेद केवल शिष्यों को पाप की प्रणालियों का बोध कराने के लिये उदाहरण स्वरूप किये गये हैं।

(४३)

हिंसा की परिभाषा

यत्खलुकषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।।४३।।

कर कषाय संयुक्त वचन मन अथवा काय सहित व्यापार–
स्वपर द्रव्य या भाव प्राण का पीड़न या करना संहार–
ही हिंसा है पाप सुनिश्चित श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण।
अनृतादिक यों हिंसा के ही स्वतः सिद्ध हों अंग प्रधान–

भावार्थः—कषाय से अनुरंजित (रंगी हुई) मन, वचन, काय की परणति के द्वारा जो द्रव्य प्राण और भाव प्राणों का घात (व्यपरोपण) किया जाता है उसे ही सुनिश्चित रूप में हिंसा कहते हैं।

सारांश यह कि कषाय वश मन, वचन, काय से अपने या दूसरों के इन्द्रियादि द्रव्य अथवा सुख शांति निराकुलता रूप भाव प्राणों का घात करना ही हिंसा कहलाती है।

(४४)

अहिंसा और हिंसा का संक्षिप्त स्वरूप

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्यसंक्षेपः ।।४४।।

अंतस् में रागादि विकारों का नहिं होना ही मतिमान–
धर्म अहिंसा प्रतिपादित है प्राणिमात्र का बंधु महान।
भावों का कलुषित हो जाना ही हिंसा है पाप मलीन।
हिंसा और अहिंसा का यह है संक्षिप्त स्वरूप प्रवीण!

भावार्थः—संक्षेप में जिनागम का यही निर्देश है कि आत्मा में रागादि विकारों का उत्पन्न न होना ही अहिंसा और रागादि भावों की उत्पत्ति का होना ही हिंसा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा में जब क्रोधादि कषाएँ उत्पन्न होती हैं तब निश्चित ही आत्मा की सुख-शांति भंग हो जाती है और अपनी इस सुख-शांति का भंग हो जाना ही आत्म हिंसा है। यह आत्म हिंसा ही स्व-हिंसा कहलाती है। इसके सिवाय कषाय वश मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कर जो दूसरों के द्रव्य या भाव प्राणों को दुःखाया या आघात पहुँचाया जाता है वह पर-हिंसा कहलाती है।

इस प्रकार जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अहिंसा और हिंसा का उल्लिखित स्वरूप वस्तुतः लोक में प्रचलित हिंसा और अहिंसा की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है; क्योंकि इसमें अहिंसा (धर्म) और हिंसा (पाप) को अन्याश्रित न मान आत्माश्रित दर्शाया गया है।

(४५)

रागादिभाव बिना प्राणिघात मात्र से हिंसा नहीं

युक्ताचरणस्यसतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
नहि भवति जातुहिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ।।४५।।

राग द्वेष विन सतत समिति युत पालन करते यत्नाचार–
हो जाये यदि प्राण प्रपीड़न सावधान उस यति के द्वार–
तदा न किंचित् भी हिंसा का भागी होता वह संभ्रांत।
यत्नाचार बिना हिंसक है, वध हो या नहिं तत्र नितांत।

भावार्थः—राग द्वेषादि कषाय भाव बिना युक्ताचरण (समिति-पूर्वक सावधानी से प्रवृत्ति) करते हुए सत्पुरुष केवल प्राणि-पीड़न हो जाने मात्र से हिंसा के पात्र नहीं होते।

जैसे कोई मुनिराज—जो पूर्ण अहिंसा महाव्रत के पालक हैं—ध्यान (सामायिक) कर रहे हैं, उनके शरीर से टकरा कर यदि कोई जीव जन्तु मर जावे उस दशा में अथवा जीव हिंसा न हो—ऐसा विचार कर सयत्न व सावधानी पूर्वक वे ईर्यासमिति से गमन कर रहे हैं, तव उनके पादादि के निमित्त से यदि किसी प्राणी की मृत्यु भी हो जावे तो साधु हिंसा के भागी नहीं होंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४६)

रागादि भाव पूर्वक प्रवृत्ति करने पर जीव के न मरने पर भी हिंसा अवश्य होगी

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ।।४६।।

राग द्वेष युत यदि प्रवृत्ति हो जब भी यत्नाचार विहीन–
उस क्षण जीव मरें अथवा नहिं, है वह हिंसा पाप मलीन ।
सकषायीजन यतः प्रथम निज-भाव प्राण का करता घात–
पर प्राणी की हिंसा हो या नहि भी होवे तत्पश्चात् ।

भावार्थः—जब कोई व्यक्ति राग-द्वेषादि वश अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है उस दशा में किसी जीव के न मरने पर भी हिंसा आगे-आगे दौड़ती अर्थात् अवश्य होती है।

जो प्रमादी व्यक्ति असावधानी पूर्वक दूसरों के सुख दुख का ध्यान न रख अदयारूप प्रवृत्ति करते हैं उस दशा में जीवों का घात भले न हो, किन्तु वे हिंसा के ही भागी होंगे।

(४७)

कोई जीव मरे या न मरे, रागादिभाव का होना ही हिंसा है

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणान्तु ।।४७।।

भावार्थः—क्योंकि कषायों (राग-द्वेषादि भावों) में निरत आत्मा अपने भावों द्वारा स्वयं की हिंसा (अपने ज्ञान वा आत्म-शान्ति आदि गुणों का घात) पहिले ही कर लेता है। तत्पश्चात् दूसरे प्राणियों का घात हो या न भी हो।

हिंसा और अहिंसा किसी के मरने-जीने पर निर्भर न रह कर असावधानी एवं दुर्भावपूर्वक (रागद्वेषपूर्वक) अयत्नाचार रूप प्रवृत्तियाँ करने पर निर्भर है। यदि आत्मा के भाव रागद्वेष रहित निष्कषाय हैं एवं व्यक्ति असावधानी से कार्य कर रहा है तो वह अहिंसक है और यदि वह कषायों के प्रवाह में वह रहा है तो हिंसक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः—यदि ऐसा ही है तो अन्य जीवों की हिंसा में कोई पाप न होना चाहिए।

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य पर-हिंसा के आगे दो प्रकार दर्शाते हैं:—

(४८)

हिंसा के दो भेद

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवतिहिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

वह हिंसा द्वय रूप विहित है बहुश. प्रथम अविरमण रूप,
अरु द्वितीय परिणमन रूप है परिणति हो जब पाप स्वरूप।
नहिं विरक्त होना हिंसा से भी हिंसा है, यतः प्रवीण!
हो प्रमाद के योग निरंतर निश्चित हिंसा भावाधीन।

भावार्थः—अन्य जीवों की हिंसा का त्याग न करना भी हिंसा है और हिंसारूप प्रवृत्ति करना भी हिंसा है। क्योंकि जब तक प्रमत्त योग है—अर्थात् आत्मा में कषाय भाव विद्यमान है वा अहिंसा व्रत पालन करने का भाव नहीं है तब तक अव्यक्त प्रमाद के योग से सतत ही अपने भाव प्राणों (आत्मा की निराकुलता व ज्ञानादि गुणों) का घात होता रहता है।

आचार्य श्री ने इस कारिका द्वारा हिंसा पाप के एक सूक्ष्म और गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किया है। जिसके अनुसार अहिंसा-व्रती के व्रत का महत्त्व सहज ही प्रकट हो जाता है। वे लोग जो वर्तमान में हिंसा नहीं कर रहे हैं (किसी जीव को नहीं मार रहे हैं; किन्तु हिंसा के त्यागी (व्रती रूप में) नहीं हैं—वे भी हिंसक हैं; क्योंकि जिन्होंने हिंसा से विरत होकर उसके त्याग का व्रत नहीं लिया है उनके भीतर परिणामों में हिंसा प्रसुप्त (सोई हुई) है—जो कभी भी निमित्त मिलने पर जाग्रत हो सकती है। जैसे कोई सोता हुआ बिलाव या शिकारी किसी को न मार रहा हो—तो भी वह हिंसक है, यतः उसने हिंसा का त्याग नहीं किया है—जैसे ही कोई मूषकादि प्राणी उसके समक्ष आता है—वह तुरन्त उस पर झपट पड़ता है। इसी प्रकार वे अव्रती भी अविरमण रूप हिंसा के भागी हैं, जिन्होंने हिंसा से विरक्त हो कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिज्ञा या नियम रूप से हिंसा का त्याग नहीं किया। अतः हिंसा से बचने के लिए उसे त्याज्य समझ व्रत लेकर त्याग करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

आचार्यश्री के अविरमण रूप हिंसा का उल्लेख कर यह भी जतला दिया कि जो लोग व्रतों को बंधनकारक ही समझते हैं और स्वेच्छाचार पूर्वक (स्वच्छन्द) प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हुए स्वयं को अहिंसक समझ रहे हैं, वे किस प्रकार आत्मवंचना कर रहे हैं।

(४९)

यदि हिंसा स्वभावाश्रित है तो अन्य वस्तु का त्याग क्यों ?

सूक्ष्मापि न खलुहिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धयेतदपिकार्या ।।४९।।

निश्चित हिंसा हो न सूक्ष्म भी यद्यपि अन्य वस्तु कृत रंच।
भाव शुद्धि हित तौभी श्री जिन त्याज्य कहा पर संग प्रपञ्च।
अन्य वस्तु के अवलंबन से हों रागादि भाव उत्पन्न।
जिसके त्याग किये बिन भावों में विशुद्धि नहीं हो निष्पन्न।

भावार्थः—यद्यपि पुरुष को पर-वस्तु के सम्बन्ध से सूक्ष्म भी हिंसा नहीं होती तथापि अपने परिणामों की विशुद्धि के लिये हिंसा के आयतनों (परिग्रहादि बाह्य वस्तुओं) का, जो राग-द्वेषादि रूप भावों की उत्पत्ति में निमित्त पड़ते हैं—जिनके अवलम्बन से रागादि उत्पन्न हो जाते हैं, त्याग करना आवश्यक है।

जो व्यक्ति भ्रम वश एकांत से ऐसा मानते या कहते हैं कि पर वस्तु का आत्मा के विकारी भावों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है अथवा पर-वस्तु के पास होने या न होने से आत्मा का कुछ बनता बिगड़ता नहीं है, उनको आचार्य श्री पर वस्तुओं के त्याग करने का उपदेश देकर यह दर्शा रहे हैं कि पर-वस्तुएँ, जो कि हिंसा के आयतन हैं और जिनके निमित्त से अंतरंग में रागादि भावों की उत्पत्ति हो सकती है उनका त्याग करना भी अहिंसा का परिपालन और संरक्षण ही है, जो कि हिंसा से बचने के लिये आवश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे पक्ष में बाह्य वस्तुओं (परिग्रह) का संग्रहण या संरक्षणादि कार्य बिना ममत्व या राग-द्वेषादि भावों के सम्भव नहीं है। क्यों कि रागादि भावों के बिना परिग्रह का संचय ही नहीं होता, अतः परिग्रह रखने वाला हिंसक कैसे नहीं है? अवश्य है।

(५०)

निश्चयाभासी की भर्त्सना

निश्चयमबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥५०॥

जो निश्चय नहिं जान यथावत् चलै भ्रांति को निश्चय मान–
वह जन करण चरण से निश्चित भ्रष्ट हुआ हो पतित महान।
बाह्याचार विचार सर्वथा ही असार गिन वह मतिभ्रांत–
सतत प्रमादी वा स्वच्छंद बन दुर्गति का हो पात्र नितांत।

भावार्थः–जो निश्चय के स्वरूप को भली-भाँति यथार्थ रूप में न जानते हुए भी अपनी भ्रान्त (मिथ्या या गलत) धारणा–निश्चयाभास को ही निश्चय मान श्रद्धान कर लेता है वह मूर्ख बाह्य संयमाचरणादि क्रियाओं के करने में आलसी हुआ अपने शुभ और शुद्धोपयोगमयी आचरण का नाश कर लेता है।

आचार्यश्री ने इस कारिका द्वारा उस निश्चयाभासी की भर्त्सना करते हुए उसे सचेत किया है कि जो बाह्य परिग्रह के त्याग किये बिना या बाह्याचार व्रत संयमादि का परिपालन किये बिना केवल यह मान कर कि "भाव शुद्ध होना चाहिये, कार्य चाहे कुछ भी करो या परिग्रह कितना भी रखो–इससे आत्मा का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है"। स्वेच्छाचारी बना रह कर अपने को निश्चय धर्म का आराधक या पालक मान भ्रमित हो रहा है। उक्त भ्रान्त धारणा ही निश्चयाभास है।

वस्तुतः निश्चय-व्यवहार धर्म परस्पर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष और एक-दूसरे के मित्रवत् पूरक हैं। अतः जो नयों के पक्ष व्यामोह का परित्याग कर निश्चय व्यवहार धर्म का यथार्थ रहस्य जान उनकी यथायोग्य सम्यक् आराधना और साधना द्वारा आत्म कल्याण करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वही वास्तव में ज्ञानी है। ऐसा जान — व्यवहार-निश्चय स्वरूप मोक्ष-मार्ग का यथावत् पालन करना ही योग्य है। *

(५१)

हिंसा-अहिंसा संबंधी गूढ़ रहस्य

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ।।५१।।

हिंसन क्रिया न कर भी कोई हिंसा का फल भोगे भ्रांत।
जो मन ही मन राग द्वेष कर पापास्रव ही करै नितांत।
अन्य बाह्य हिंसा करता भी यदि दिखता हो जन संभ्रांत—
विन प्रमाद फल पाता है वह मात्र अहिंसा का, निभ्रांत।

भावार्थः—कोई बाह्य हिंसा किये विना भी हिंसा के फल को प्राप्त करता है और कोई बाह्य हिंसा करके भी अहिंसा के फल को प्राप्त होता है।

---

* ग्रंथकार परमपूज्य अमृतचन्द्र स्वामी ने यही भाव प्रकारान्तर से अपनी समय सार कलश टीका में अभिव्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

"स्याद्वाद कौशल सुनिश्चल संयमाभ्यां यो भावयत्यहरहोस्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ।।२६७।।"

अर्थात् जो पुरुष स्याद्वादनय का प्रवीणपना और व्रत समिति गुप्तिरूप सुनिश्चल (दृढ़) संयम इन दोनों के द्वारा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ आत्मा को निरंतर भावता है, वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय इन दोनों में परस्पर हुआ जो तीव्र मैत्रीभाव उसका पात्र हुआ इस निज भाव मयी भूमिका को पाता है। जो ज्ञाननय को ही ग्रहण कर क्रियानय को छोड़ता है वह प्रमादी स्वच्छंद हुआ इस भूमिका को नहीं पाता और जो क्रियानय को ही ग्रहण कर ज्ञाननय को नहीं जानता वह भी मात्र शुभ कर्म में संतुष्ट हुआ इस निष्कर्म-मयी भूमिका को नहीं पाता तथा जो ज्ञान पाकर निश्चल संयम को अंगीकार करते हैं उनके ज्ञाननय और क्रियानय (निश्चय और व्यवहार) के परस्पर अत्यन्त मित्रता होती है, वे ही इस भूमिका को पाते हैं।"

—समय सार परिशिष्ट पृष्ठ ५६३
(रायचन्द्र शास्त्र माला)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे किसी धीवर ने मछलियाँ पकड़ने के लिये पानी में जाल फैलाया और संध्या तक तत्परतापूर्वक मछलियों के जाल में फँसाने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु एक भी मछली जाल में नहीं फँसी। इस दशा में किसी मछली को न पकड़ने या न मारने पर भी वह अपने दुष्ट परिणामों के कारण हिंसा का फल ही भोगेगा। उसी प्रकार एक निष्कषाय वीतरागी मुनि ध्यान में लीन हैं और उनके शरीर से कोई पतिंगा आकर टकराकर मर जाता है या ईर्या समितिपूर्वक चलते व पूर्ण सावधानी (जीव रक्षा सम्बन्धी) वर्त्तते हुए भी अकस्मात् उनके पगतले कोई जीव उछल कर गिरता व मर जाता है तो साधु को हिंसा का फल प्राप्त नहीं होगा।

(५२)

अल्प और महाहिंसा के फलों में अनल्पता और अल्पता

एकस्याल्पाहिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

एक स्वल्प हिंसा कर भी जन पाता बहु हिंसा फल हीन—
अति अनुरंजित होवें जिसके भाव कषायों द्वार मलीन।
किंतु दूसरा अतिशय हिंसा करता दिखता यदपि नितांत
फल पाता वह स्वल्प तदपि जन मंदकषायी रह संभ्रांत।

भावार्थः—किसी ने (बाह्य) हिंसा थोड़ी की अर्थात् उसके द्वारा जीव कम मरे हों तब भी उसे महाहिंसा का फल प्राप्त हो सकता है और किसी के द्वारा (बाह्य) की गई महाहिंसा भी अल्प "हिंसा का" फल प्रदान करती है।

जैसे किसी ने किसी को तीव्र कषायवश मार डालने या बृहत्दुःख पहुँचाने के अभिप्राय को तो मन में रखा; किन्तु मारपीट कम कर सका या सताने में बहुत कम सफल हुआ तो वैसी दशा में तीव्र कषायजन्य महाहिंसा का फल ही उसे भोगना पड़ेगा तथा किसी ने मन्द कषायपूर्वक किसी जानवर आदि को भगाने या अपने से दूर करने के अभिप्राय से साधारण तया भगाया; किन्तु जानवर मर गया ऐसी दशा में उसको अल्प हिंसा का ही फल मिलेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५३)

एक हिंसा के अनेकों को अनेक फल

एकस्य सैवतीव्रं दिशति फलं सैवमन्दमन्यस्य।
व्रजतिसहकारिणोरपि हिंसावैचित्र्यमत्रफलकाले ।।५३।।

बहुजन एक साथ मिल करते हिंसा एक; किंतु फलदान–
करती है वह तीव्र, मंद या मध्यम विविध स्वरूप, निदान।
इस विचित्रता का कारण है तीव्र मंद वा मध्यम भाव–
अंसत् में जिसके जैसे हों, फल भी हो त्यों स्वतः स्वभाव।

भावार्थः–दो व्यक्तियों ने मिलकर किसी को एक साथ मारा या सताया तो भी एक व्यक्ति को उस हिंसा का फल अधिक भोगना पड़ेगा (यदि उसके मन में उस समय तीव्र कषाय होगी); किन्तु दूसरे को (यदि उसके मन में मन्द कषाय होगी तो) कम फल भोगना पड़ेगा। कर्म फलों की तीव्रता या मन्दता व्यक्ति की आँतरिक तीव्र मन्द कषाय पर निर्भर है।

(५४)

अक्रियमाण, क्रियमाण, आरभ्य मान हिंसा और उसके फलों की विचित्रता

प्रागेवफलति हिंसा ऽक्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ।।५४।।

हो जाए फल प्राप्त प्रथम ही हिंसा का-जो हो क्रिममाण।
कोई तत्क्षण फलपाता है हिंसा करते हिंसावान्।
हिंसा का संरम्भ किया, पर कर न सका यदि हिंसन कार्य–
वह भी फल पाये हिंसा का दुर्भावानुसार अनिवार्य।

भावार्थः–किसी को हिंसा करने के पूर्व ही उसका फल प्राप्त हो जाता है और किसी को हिंसा करने के पश्चात् उसका फल प्राप्त होता है तथा किसी को हिंसा किये विना ही (हिंसा का आरंभ करने मात्र से ही) हिंसा का फल प्राप्त होता है।

जैसे किसी व्यक्ति ने अपने शत्रु को मारने का वर्षों पूर्व संकल्प किया; किन्तु मारने में सफल वर्षों बाद हुआ वैसी दशा में हिंसा का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकल्प करने और किये रहने के कारण उसका फल मारने के पूर्व भी प्राप्त हो सकता है। यह भी हो सकता है कि मारने का संकल्प वर्षों पूर्व से किये रहने पर भी वह मारने में सफल जब हो रहा हो तब अर्थात् हिंसा करते समय ही उसको पूर्व संकल्पित हिंसा का फल मिल जावे। किसी को हिंसा करने के पश्चात् उसका फल प्राप्त होता है और किसी ने हिंसा नहीं की किंतु उसका संकल्प व समारंभ मात्र किया तो उसको भी (बाह्य हिंसा न कर पाने पर भी) संकल्पित हिंसा का फल भोगना पड़ता है।

(५५)

बहुजनों की हिंसा का फल एक को एवं एक की हिंसा का फल अनेक को

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ।।५५।।

एक व्यक्ति हिंसा करता है फल पाते हैं किंतु अनेक—
हिंसा करते देख एक को करें समर्थन जबकि अनेक।
हिंसा करें अनेक कहीं जन किंतु वहीं फल पाता एक—
स्वामी की आज्ञा पाकर जब आक्रामक हों भृत्य अनेक।

भावार्थः—कभी ऐसा भी होता है कि एक व्यक्ति किसी को मार रहा है और अनेकों इससे प्रसन्न हो रहे हैं, ऐसी दशा में उस एक व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली हिंसा का फल वे अनेक व्यक्ति भी भोगेंगे। इसी प्रकार राजाज्ञा से युद्ध में अनेक सैनिक प्रवृत्त होते हैं परन्तु उन अनेकों की हिंसा का फल राजा को होता है। (यदि युद्ध करते समय सैनिकों में भी हिंसा करने की भावना हो जाय तो सैनिकों को भी भावानुसार फल मिलेगा।)

(५६)

हिंसा और अहिंसायुक्त कार्यों की भावानुसार विचित्रता

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेवफलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ।।५६।।

कोई हिंसा एक व्यक्ति को हिंसा का ही दे फलदान—
अन्य व्यक्ति को वही अहिंसा का निश्चित फल करै प्रदान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्वचित् अहिंसा भी हिंसा का एकमेव फल दे फलकाल,
इतर जनों को हिंसा फलती मात्र अहिंसा रूप विशाल ।

भावार्थः—एक व्यक्ति किसी को निर्दयतापूर्वक मार रहा है इस व्यक्ति को कषाय के भावानुसार हिंसा का फल ही प्राप्त होगा; किन्तु दूसरी ओर रोगी को स्वस्थ बनाने के लिए दयार्द्र होकर डाक्टर साहब चीर फाड़ कर रहे हैं, तो उस दशा में उन्हें चीरफाड़ करने पर भी अहिंसा का ही फल प्राप्त होगा।

(५७)

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ।।५७।।

भावार्थः—इसी प्रकार एक व्यक्ति बाहर दिखाने के लिए किसी को संकट या दुःख से बचाने का प्रयत्न करता दिखाई देता है; किन्तु उसकी भावना उसका बुरा करने की है अथवा किसी ने अन्य के प्रति दुर्भावनावश कोई कार्य किया किन्तु सौभाग्यवश उसका उससे भला हो गया तो ऐसी स्थितियों में कार्यकर्ता को दुर्भावनाओं का बुरा फल ही प्राप्त होगा। ऐसे ही कोई सद्भावनावश गुरु, शिष्य को या माता पिता अपनी सन्तानों को उनकी भलाई के लिए डाँटते या दंड भी देते हैं तो बाह्य दृष्टि से उनके कार्य भले ही हिंसक के रूप में दिखाई दें; किन्तु उन्हें फल उनकी सद्भावनाओं का ही प्राप्त होगा। अथवा कोई वैद्य या डाक्टर रोगी को स्वस्थ करने के लिए कोई दवा दे या चीर-फाड़ करे; किन्तु रोगी अच्छा न हो कर मर जाये तो भी चिकित्सक को फल अहिंसा का ही मिलेगा।

(५८)

नयचक्र के ज्ञाता गुरु ही उल्लिखित गुत्थियों का समाधान करने में समर्थ हैं

इतिविविधिभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ।।५८।।

एवं नाना भंगरूप इस गहन विपिन में जो मतिभ्रांत—
भ्रमित हुआ पथ भ्रष्ट हो रहा तबगुरु ही हों शरण नितांत ।
जिन्हें प्राप्त हैं अनेकान्त नय चक्रज्ञान जिन सूत्र प्रमाण—
सकल भ्राँतियों का समन्ततः वे सत्वर करते अवसान ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—उपर्युक्त हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में प्रतिपादित अनेक गहन भंगों में उलझे हुए मार्ग मूढ़जनों को श्री गुरु ही मार्ग-दर्शन देने में शरणभूत होते हैं; क्योंकि उन्हें विविध नयों के चक्रव्यूह का भली भाँति ज्ञान होता है।

किस कार्य में हिंसा है और किस कार्य में अहिंसा? इसका निर्णय नयों के यथार्थ ज्ञान बिना नहीं हो सकता। किस व्यक्ति ने किस भावना या उद्देश्य से कोई कार्य किया है और उसका वह कार्य हिंसा का है या अहिंसा का? इसका निर्णय वस्तुतः व्यक्ति की भावनाओं और उद्देश्यों को जाने बिना नहीं दिया जा सकता। जन साधारण तो बाह्य कार्यों को देख कर ही व्यक्ति को हिंसक या अहिंसक मान लेते हैं, जो कि प्रायः यथार्थ नहीं होता। अतः जो हिंसा-अहिंसा के वास्तविक स्वरूप और रहस्य को जानते हैं उन गुरुजनों से ही उक्त विषय का ज्ञान प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

(५९)

नय चक्र की महत्ता

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

है जिनेन्द्र नय चक्र वस्तुतः तीक्ष्णधार युत अति दुर्दांत—
अतः सावधानी पूर्वक ही वर्तन में है श्रेय नितांत।
जो प्रयोग करते स्वच्छंद बन जन विमूढ़ इसका जिसकाल—
उनका मस्तक छिन्न भिन्न कर ही रहता है वह तत्काल।

भावार्थः—जिनेन्द्र भगवान् के नयचक्र को बड़ी सावधानी से प्रवर्त्तन करने (चलाने) की आवश्यकता है; क्योंकि वह बड़ी तेज धार वाला है और उसका चलाना भी सरल नहीं है। जो मूर्ख विना जाने-समझे इसका प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं उनके मस्तक को यह तुरन्त ही विदीर्ण कर डालता है।

सारांश यह कि अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप का स्याद्वाद् द्वारा विभिन्न नयों का समन्वय करते हुए जैन सिद्धांत में ही विश्लेषण एवं प्रतिपादन किया गया है। उसको समझने के लिए विवेक और सावधानी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की आवश्यकता है। इसमें मन्द ज्ञानियों का प्रवेश पाना कठिन है, अतः नय-चक्रविद् ज्ञानी गुरुओं से इसके रहस्य को समझ कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है, अन्यथा जैसे बन्दर द्वारा हाथ में ली गई तलवार उसी के अंग भंग कर डालती है उसी प्रकार अज्ञानियों को भी सम्यग्ज्ञान बिना भ्रमबुद्धि जन्य कार्यों के दुष्परिणाम भुगतना पड़ते हैं।

(६०)

हिंसा से बचने का उपाय

अवबुध्य हिंस्यहिंसक हिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतांहिंसा ।।६०।।

अतः हिंस्य, हिंसक, हिंसा सह हिंसाफल का कर परिज्ञान—
भव्य ! सतत हिंसा परित्यागें अपनी अपनी शक्ति प्रमाण।
इस पापास्रव की निवृत्ति कर है अभीष्ट संवर यदि भ्रात !
तदि परिपालन करहु अहिंसा यही मुक्ति पथ है अवदात।

भावार्थः—अतः इस सन्दर्भ में जो विवेकी पुरुष पाप बन्धन से बचना और आत्म-कल्याण करना चाहते हैं उन्हें हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल इनका वास्तविक स्वरूप जानकर हिंसा का त्याग करना चाहिये।

हिंस्यः—उसे कहते हैं जिसकी हिंसा की जावे या जिसे सताया जावे।

हिंसकः—उसे कहते हैं जो हिंसा की क्रिया करता है।

हिंसाः—अपने व दूसरे के भाव प्राणों तथा द्रव्य प्राणों का घात करना।

हिंसा-फलः—कर्मबन्धन और दुःखानुभवन।

(६१)

हिंसा परित्याग का क्रम

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानियत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामै र्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।।६१।।

सर्व प्रथम हिंसा निवृत्ति का सरल पंथ है यही, प्रवीण।
मद्य, माँस, मधु का परिसेवन तजहु यत्नतः सर्वांगीण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंच उदम्बर फल में भी हों समुत्पन्न त्रस जीव अनेक–
अतः भक्ष्य नहिं ये कदापि हैं इन्हें तजहु गह चित्त विवेक ।

भावार्थः–जो व्यक्ति हिंसा से विरक्त होकर उसका त्याग करना चाहते हैं उन्हें सर्व प्रथम मद्य, मांस और मधु का तथा वड़, पीपल, पाकर, अंजीर और गूलर इन पाँच उदम्बर फलों के सेवन का यत्न-पूर्वक त्याग करना चाहिए।

यतः इनका सेवन करने से असंख्य त्रसजीवों की हिंसा होती है तथा इनके प्रति राग (रसास्वादन का) होने से स्वभाव हिंसा भी होती है, अतः इनके सेवन करने का त्याग कर देने से दोनों प्रकार की हिंसा का आंशिक त्याग हो जाता है और मनुष्य अहिंसा पथ का अनुगामी बन कर अष्ट मूलगुणों का धारक बन जाता है।

(६२)

मद्यपान से हानियाँ

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशंकमाचरति ।।६२।।

यतः मद्य मन मोहित करता, जिससे जन होकर विभ्रांत–
धर्म विस्मरण कर रहता है बन विवेक परिशून्य नितांत–
विस्मृत-धर्म निशंक, भाव से हिंसा रत हो रहे, स्वछंद ।
आजीवन अतएव नियम कर तजहु मद्य सेवन भविवृन्द !

भावार्थः–मदिरा मन को मोहित करती है अर्थात् व्यक्ति के चित्त को भ्रमित कर उन्मत्त (पागल) बना देती है। जिसका चित्त मोहित हो जाता है वह अपने धर्म को भी भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ व्यक्ति निःशंक होकर हिंसा रूप आचरण करने लगता है।

(६३)

मद्य पान में हिंसा की अनिवार्यता

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।।६३।।

मादक द्रव्य गलाकर निश्चित मदिरा होती है निष्पन्न ।
जिसमें अंगणित सूक्ष्म जीव त्रस हों अनिवार्य सतत उत्पन्न ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अविवेकी बन मानव करते जो रूचि पूर्बक मदिरापान-
निश्चित वे मद्यज जीवों की हिंसा के हों पात्र महान् ।।

भावार्थः—मदिरा अनेक पदार्थों को सड़ाकर तरल रस के रूप में निर्माण की जाती है। उस रस में अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है। अतः वह अनन्त जीवों की उत्पत्ति का स्थान है। जो व्यक्ति मद्यपान करते हैं उनसे मदिरा में उत्पन्न उन जीवों की अनिवार्य रूप में हिंसा अवश्य होती ही है।

(६४)

मद्यपान जन्य अन्य विकृतियाँ

अभिमानभयजुगुप्सा हास्यारति शोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्य्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ।।६४।।

हास्य अरति रति काम क्रोध भय शोक जुगुप्सा छल अभिमान—
हैं सम्पूर्ण विकृतियाँ निश्चित हिंसा के ही अंग महान ।
मद्यप में सुस्पष्ट प्रकट हों ये हीनाधिक रूप प्रवीण !
अतः स्वात्म हित त्याज्य विहित है विषवत् मदिरापान मलीन ।।

भावार्थः—जो व्यक्ति मदिरापान करता है उसमें अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम (विषय वासना) एवं क्रोधादि कषाय रूप विकार भावों की अनिवार्य रूप में उत्पत्ति होती है तथा ये सब विकार भाव हिंसा के ही पर्याय (नामान्तर) हैं जो सब के सब मद्य-पायी में प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

मदिरा पान करने वालों का जीवन भी नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। वे नशे में मत्त होकर दुर्गन्धित गटरों या उनके किनारे पड़े रहते हैं, मुँह में कुत्ते तक मूतते रहते हैं। वे पागलों की भाँति निरर्गल प्रलाप करते हैं, आजीविका नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है—जिससे उनके आश्रित बाल-बच्चे भूखों तक मरने लगते हैं, तथा उनके ऊपर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ विपत्तियाँ भी आती रहती हैं, स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है, अनेक प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इन सभी कारणों से सर्वप्रथम मद्यपान का त्याग करना आवश्यक है। साथ ही अन्यान्य मादक पदार्थों (नशीली वस्तुओं) के सेवन से भी बचना चाहिए; क्योंकि मानव को नशा मात्र हानिकर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६५)

मांसाहार में व्यापक हिंसा

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ।।६५।।

यतः प्राणिवध बिना मांस की हो न क्वचित् उत्पत्ति नितांत ।
मांसाहारी जन को हिंसा होती अनिवारित सर्वांत ।।
मांस पेशियाँ त्रस जीवों की देहाश्रित ही हों निष्पन्न ।
प्राणि देह खंडन बिन होंगा मांसाहार कथं सम्पन्न ।।

भावार्थः—मांस की उत्पत्ति प्राणियों के घात हुए बिना नहीं होती। क्योंकि त्रस (द्वीन्द्रियादि) जीवों के शरीर का कलेवर ही मांस कहलाता है और वह उन्हें मार कर व चीर फाड़ कर प्राप्त किया जाता है। अतः मांस भक्षण करने वालों को जीव हिंसा का पाप अनिवार्य रूप में लगता ही है।

(६६)

स्वयं मृतक पशु के मांस भक्षण में भी हिंसा

यदपि किलभवति मांसं स्वयमेवमृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोत निर्मथनात् ।।६६।।

स्वयं मृत्यु को प्राप्त हुआ जो गो महिषादि प्राणि समुदाय—
भक्ष्य मान्य नहिं है तिस पर भी उनकी वह मृत देह-निकाय ।
यतः देह भी हो सम्मूर्छन तज्जातीय जीव संक्रांत ।
अतः मृतक तन भक्षण में भी हो हिंसा अनिवार्य नितांत ।

भावार्थः—अपने आप मरे हुए गाय-भैंसादि पशुओं का भी जो मांस होता है उसमें सूक्ष्म अनन्त निगोदी जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। अतः मृतक शरीर का मांस भक्षण करने पर उन अनन्त जीवों की हिंसा से भी किसी प्रकार बचा नहीं जा सकता।

(६७–६८)

प्रत्येक अवस्था में मांस भक्ष्य नहीं

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ।।६७।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ।।६८।।

माँस पक्व हो या अपक्व या पच्चमान हो, किंतु त्रिकाल–
तज्जातीय सूक्ष्म जीवों की उसमें हो उत्पत्ति विशाल ।
अपरिपक्व परिपक्व द्विविध ही माँस पिंड अत एव, प्रवीण !
स्पर्शन या भक्षण कर्त्ता जन हिंसक ही है सर्वांगीण ।

भावार्थः–चूंकि मांस जीवों की उत्पत्ति का प्रमुख स्थान है, अतः जिस जाति के जीव का मांस होता है उसमें उसी जाति के सूक्ष्म निगोदी जीवों की प्रत्येक अवस्था में–पक्व, अपरिपक्व, अथवा पच्यमान (पकते हुए भी) उत्पत्ति होती रहती है। ये जीव सम्मूर्छन और सूक्ष्म हुआ करते हैं।

कुछ लोग पके हुए मांस को निर्जीव मानते हैं; किन्तु उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि मांस किसी भी अवस्था में जीवोत्पत्ति के बिना नहीं रहता है।

मांस में निरन्तर जीवोत्पत्ति होते रहने के कारण जो लोग मांस को कच्चे या पके रूप में भक्षण करते हैं या उसका स्पर्श भी करते हैं वे असंख्य जीवों के पिण्डों के घातक होने से अवश्य ही हिंसक सिद्ध हो जाते हैं। अतः अहिंसा धर्म के परिपालकों को मांस सेवन का त्याग अवश्य ही करना चाहिए।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांस खाना उचित नहीं है; क्योंकि मांस भक्षण से अनेक प्रकार की बीमारियाँ तथा असाध्य रोग तक उत्पन्न हो जाते हैं। साथ ही मांससेवी का स्वभाव भी क्रूर और निर्दय बन जाता है जिससे व्रत शील संयमादि धर्मों का परिपालन करना असंभव हो जाता है।

(६९)

मधु सेवन से हानि

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके ।
भजतिमधुमूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ।।६९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मधु, मधुकर जातीय जंतुओं की होती उच्छिष्ट विशिष्ट
पुष्पों का रस मधुप गृहण कर मधु गोलक में वमैं निकृष्ट।

अगणित त्रस जीवों की होती तहँ उत्पत्ति सतत त्रयकाल।
मधुसेवीजन यों हिंसा का पात्र नियम से हो तत्काल।

भावार्थः-इस लोक में मधु (शहद) की एक बूंद भी मधुकर (मधु मक्खियों(की हिंसा से ही उत्पन्न होती है; अतः जो बुद्धिहीन बिना विचारे मधु का सेवन करता है वह अत्यंत हिंसा का पात्र बन जाता है।

मधु मक्खियाँ फूलों का रस चूस कर आती हैं और उसका छत्ते में वमन कर इकट्ठा करती जाती हैं। ग्रामीण या वनवासी जन छत्ते को तोड़ व निचोड़ कर उसमें से शहद निकालते हैं, अतः प्रथम तो वह वमन होने से ही अत्यंत घृणित और अभक्ष्य पदार्थ है, फिर वह रस छत्ते में सड़ता रहता है है जिससे उसमें असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। और छत्ते को निचोड़ने से उसमें बैठी हुई मक्खियाँ व उनके अंडे बच्चे भी मारे जाते हैं तथा उनका रस भी शहद में ही निचुड़ कर मिल जाता है अतः अहिंसा के साधकों को शहद के सेवन करने का त्याग करना ही उचित है।

(७०)

मधु सेवन का प्रत्येक दशा में निषेध

स्वयमेवविगलितं यो गृह्णीयाद्वाछलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनाङ्घातात् ॥७०॥

स्वयं विनिःसृत होकर जो हो मधु-गोलक से मधु संप्राप्त—
अथवा मधु गोलक निचोड़कर छल बल से की जाये प्राप्त—

जीवों का निश्चित ही होता उभय दशा में घात नितांत।
मधु सेवन भी अतः विहित है हिंसा जन्य कार्य निभ्रांत।

भावार्थः—जो शहद मक्खियों के छत्ते से अपने आप बूंद बूंद चू कर निकलता है वह भी भक्ष्य नहीं है; क्यों कि उसमें भी सड़ाँद जन्य असंख्य सूक्ष्म जीवों का सद्भाव पाया जाता है जो उसके सेवन करने से मर जाते हैं, अतः उसके सेवन से हिंसा भी अनिवार्य रूप में हुआ करती है। इसीलिये मधु सेवन का त्याग भी अहिंसा का परिपालन करने के लिये आवश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७१)

उपसंहार

मधुमद्यंनवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

सतत अमित जीवों की इनमें सहजहि हो उत्पत्ति महान–
मद्य माँस नवनीत तथा मधु जान विकृतियाँ सूत्र प्रमाण
प्रथम अहिंसा व्रती स्वयं ही इन्हें न कर किंचित् स्वीकार
हो प्रविष्ट चारित्र महल में संयम पथ कर अंगीकार ।

भावार्थः–मद्य, माँस, मधु और नवनीत (मक्खन) ये चार वस्तुएँ (जीवों की उत्पत्ति के स्थान होने से) महा विकृतियाँ कहलाती है; क्योंकि इनमें उनके ही वर्ण (रंग) के जीवों की उत्पत्ति हुआ करती है । अतः व्रती पुरुषों के द्वारा इनके सेवन का त्याग सर्व प्रथम किया जाना चाहिए ।

(७२)

उदम्बर फल भक्षण में हिंसा का सद्भाव

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात् तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

ऊमर, कठऊमर, वड़, पीपल, पाकर फल ये पंच प्रकार–
सूक्ष्म त्रसों की योनि विहित हैं जिनमें हों वे अपरंपार ।
उनका भक्षण किये घातभी होगा ही अनिवार्य, प्रवीण !
सेवन तजहु अतः संयम हित मन वच तन कर सर्वांगीण ।

भावार्थः–ऊमर, कठूमर, पिलखन, बड़ और पीपल के फल भी त्रस जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं अर्थात् इनमें भी त्रस जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं । किसी २ फल से फोड़ने पर वे उड़ते हुए भी दिखाई देते हैं इस कारण इनका भक्षण करने में उनमें उत्पन्न जीवों की हिंसा होती है ।

(७३)

शुष्क उदम्बर-भक्षण भी हिंसा से शून्य नहीं

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपास्यात् ॥७३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथासमय हों जब कि उदम्बर शुष्क तथा त्रसजीव विहीन—
निश्चित उनके सेवन में भी हिंसा होती रागाधीन ।
रहता है सविशेष राग का सेवन में तत्क्षण सद्भाव —
हिंसा है--होना अंतस् में राग द्वेष का प्रादुर्भाव ।

भावार्थः—जो उदम्बर फल यथा समय सूख जाते हैं और त्रस जीवों से रहित भी हो जाते हैं उनका सेवन भी व्रती पुरुषों को नहीं करना चाहिए; क्योंकि उनके भक्षण में सविशेष राग का सद्भाव पाये जाने से तज्जन्य हिंसा से किसी प्रकार भी नहीं बचा जा सकता । इस कारण उनका सर्वथा त्याग करना ही उचित है ।

इसके अतिरिक्त सूखे हुए अंजीरादि कठूमरों में उनमें उत्पन्न त्रस जीवों के शरीर सूख जाते हैं इससे भी वे अभक्ष्य ही माने गये हैं ।

(७४)

अष्ट मूलगुण धारक व्यक्ति ही धर्म देशना का पात्र

अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनिपरिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।।७४।।

मद्य माँस मधु पंच उदम्बर मिल कर हैं ये अष्ट प्रकार,
जो अनिष्ट एवं दुस्तर हैं पाप आयतन ही साकार ।
बुद्धि पुरस्सर त्याग इन्हें जो व्रत धारण करते मतिमान्—
पाते हैं जिन धर्म देशना की सुपात्रता वे संज्ञान ।

भावार्थः—जो अनिष्ट (आत्मा के लिये अहितकर) हैं तथा जिनका सेवन करने वाले कठिनाई से उनका त्याग कर पाते हैं और जो पाप के आयतन हैं ऐसे इन मद्य माँस मधु एवं उदम्बर फलों के सेवन का त्याग करने वाले निर्मल बुद्धि धारी व्यक्ति ही जिन धर्म की देशना के पात्र होते हैं । इससे अभक्ष्य त्याग कर व्रत धारण रूप व्यवहार धर्म को अनिवार्यता स्पष्ट है ।

इनका त्याग गृहस्थी श्रावकों के चारित्र की नींव के समान हैं, इसीलिये इनके त्याग को मूल गुणों की संज्ञा देकर आचार्यों ने इनका सर्व प्रथम परित्याग करने का उपदेश दिया है । अहिंसा धर्म का पालन इनके त्याग से ही प्रारंभ होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७५)

पूर्णतया अहिंसा पालन में असमर्थ व्यक्तियों को शक्ति प्रमाण पालन करने का निर्देश

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वंतोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेऽपि मुञ्चन्तु ।।७५।।

जब कि अहिंसा धर्म और हिंसा अधर्म है दुरित महान–
पूर्ण अहिंसा, अतः ग्राह्य है–सुन एवं उपदेश पुमान्–
हो अशक्य यदि एकेन्द्रिय की हिंसा का करने परिहार–
वह त्रस हिंसा का अवश्य ही त्याग करै निज शक्त्यनुसार ।

भावार्थः—धर्म का वास्तविक स्वरूप अहिंसा है। भगवान् के इस उपदेश को श्रवण करते हुए भी जो सब प्रकार के जीवों (त्रस और स्थावरों) की हिंसा का त्याग करने में अपने को असमर्थ पाते हों उन्हें त्रस जीवों (दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक) की हिंसा का त्याग अवश्य करना चाहिए।

(७६)

पापों के त्याग के दो रूप—उत्सर्ग व अपवाद त्याग

कृतकारितानुमननै र्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्ति र्विचित्ररूपापवादकीत्वेषा ।।७६।।

प्रथम त्याग उत्सर्ग रूप है कृत कारित अनुमोदन द्वार–
मन वाणी काया से सब विधि हिंसा का करना परिहार ।
इतर त्याग अपवाद रूप में निर्धारित है विविध प्रकार ।
जो नव कोटि बिना ही आँशिक करते हैं जन शक्त्यनुसार ।।

भावार्थः—हिंसादि पापों का त्याग दो प्रकार से होता है (१) उत्सर्ग त्याग (२) अपवाद त्याग। पापों का जो त्याग मनवचन काय कृत कारित अनुमोदना द्वारा नव कोटि से किया जाता है—वह उत्सर्ग त्याग कहलाता है। जो त्याग इनमें से थोड़े बहुत रूप में एक दो कोटियों से किया जाता है वह अपवाद त्याग कहलाता है। इसके अनेक रूप होते हैं।

इनमें नवकोटि द्वारा किया गया पापों का त्याग उत्कृष्ट त्याग कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७७)

यथा संभव स्थावर हिंसा से भी बचने की प्रेरणा

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारण विरमणमपि भवति करणीयम् ।।७७।।

श्रावक द्वारा न्याय नीति से वर्त्तन करते हुए प्रवीण !
भोग योग्य विषयों में हो जो स्थावर हिंसा तत्कालीन—
तदतिरिक्त स्थावर हिंसा का भी विधेय है प्रत्याख्यान ।
यतः अहिंसा ही सुधर्म है हिंसा पाप बीजदुख खान ।

भावार्थः—न्याय पूर्वक पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करने वाले गृहस्थों से जो स्थावर जीवों की अनिवार्य रूप में हिंसा होती है, उसके सिवाय उन्हें अन्य स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग भी अवश्य करना चाहिए अर्थात् न्यायसंगत आवश्यक भोगों के सिवाय बिना कारण स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए ।

(७८)

अहिंसा के विषय में भ्रमों से बचने की प्रेरणा

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा ।
अवलोक्यबालिशाना मसमञ्जसमाकुलै र्न भवितव्यम् ।।७८।।

अमृत स्वरूप सहज सुख साधन परम रसायन रूप अनूप —
नैसर्गिक है धर्म अहिंसा, हिंसा केवल पाप स्वरूप ।
इस विषयक संमूढ़ जनों का सुनकर भ्रामक विविध प्रलाप—
आकुल व्याकुल हों न तनिक भी असमञ्जस में पड़कर आप ।

भावार्थः—उपर्युक्त परम अहिंसा स्वरूप रसायन को प्राप्त कर—जो अमृतत्व स्वरूप है अर्थात् अमर पद मोक्ष का साक्षात् उपाय है—लोक में अज्ञानी जनों की असमञ्जस में डालने वाली लुभावनी बातों में आकर आकुल व्याकुल नहीं होना चाहिए और अहिंसा का त्याग न कर उसका दृढ़ता से पालन करना चाहिए ।

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" वाली उक्ति के अनुसार अनेक व्यक्ति अहिंसा को धर्म मानते हुए भी अपनी यथार्थ अहिंसा तत्व संबंधी अज्ञानता अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोक रूढ़ि आदि अनेक कारणों से अहिंसा अथवा धर्म के नाम पर हिंसा रूप प्रवृत्ति करने लगते हैं। अतः आचार्य श्री ने सब को अहिंसा धर्म के मर्म को समझने एवं उसका पालन करते हुए हिंसा से बचे रहने की प्रेरणा की है।

(७९)

धर्मार्थ हिंसा करना भी पाप है

(प्रथम असमञ्जस)

सूक्ष्मोभगवद्धर्मो धर्मार्थम् हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातुभूत्वाशरीरिणोहिंस्याः ।।७९।।

"है अत्यंत सूक्ष्म भगवत् का धर्म निरूपित वेद पुराण।
धर्म हेतु यों यज्ञादिक में पाप न है पशु का बलिदान।।"
एवं धर्म मूढ़ जन मानें, उनका कथन भ्रमात्मक जान—
धर्म अहिंसा संरक्षण हित करें न पशुओं का बलिदान।

भावार्थः—"भगवान् का धर्म बहुत ही सूक्ष्म है, अतः धर्म के लिये हिंसा करने में कोई दोष नहीं है" ऐसी धारणा से धर्म मूढ़ता वश धर्म के रहस्य को न समझते हुए धर्म के नाम पर जीवहिंसा कदापि न करना चाहिए।

प्राचीन काल में धर्म के नाम पर गोमेध, अश्वमेध नरमेधादि यज्ञों में असंख्य जीवों की आहुति दी जाती थी। और इसे धार्मिक हिंसा कह कर दोष नहीं माना जाता था। ऐसे ही अपने मान्य सम्प्रदाय गत धर्म प्रचार के लिये जोश में आकर अपने से भिन्न सम्प्रदायों के असंख्य लोगों की हत्याएँ कर दी जाती थीं और आज भी लोग साम्प्रदायिक दंगों में निर्दोष जनों की हत्याएँ कर डालते हैं ऐसे लोगों को समझ लेना चाहिए कि धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा महान अधर्म है, जिससे बचना ही श्रेयस्कर है।

(८०)

देवी देवताओं को बलिदान देना भी पाप

(द्वितीय असमञ्जस का निराकरण)

धर्मोहिदेवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिहसर्वम्।
इति दुर्विवेक कलितां धिषणांनप्राप्यदेहिनोहिंस्याः ।।८०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवी देवतादि द्वारा ही धर्म अवनि पर हो निष्पन्न।
अतः देव हित प्राण दान कर कुछ जन होते अमित प्रसन्न।

कुछ विवेक परिशून्य मूढ़ जन पशुओं का करते बलिदान–
जो अधर्म होकर यथार्थ में त्याज्य विहित है दुरित महान।

भावार्थः–'धर्म चूंकि देवी देवताओं से उत्पन्न होता है अतः उनकी सेवा में सर्वस्व समर्पण कर देना चाहिए' ऐसी अविवेक पूर्ण मान्यता द्वारा भ्रमित होकर देवी देवताओं को प्रसन्न करने के अभिप्राय से भैंसों, मुर्गों, बकरों आदि मूक प्राणियों का बध नहीं करना चाहिए।

कोई २ लोग तो अज्ञानता वश देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि के रूप में अपनी प्रिय सन्तान तथा अपनी स्वयं की भी हत्या कर डालते हैं। वे यह नहीं विचारते कि देवता किसी के रक्त का पिपासु नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा है तो वह देव के पावन पद पर कैसे प्रतिष्ठित हो सकता है?

देव पूजा तो उत्तम वस्तुओं से की जानी चाहिए। यदि कोई जगन्माता है तो उसकी वह भी सन्तान है जिसकी बलि देकर हत्या की जा रही है। अपनी सन्तान की अपने ही समक्ष हत्या होते देख कर कौन माता है जो–प्रसन्न हो सकती है? अतः मानव को इस संबंध में विवेकी बन कर स्वपर हित में इस धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा से बचना ही श्रेयस्कर है।

(८१)

पूज्य पुरुषों के स्वागत में भी पशु बध महापाप

(तृतीय असमञ्जस का निराकरण)

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यम् नातिथये सत्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

'यदि पवित्र गृह करें सुगुरु सम पूज्य अतिथिजन परम उदार–
स्वागत हेतु तदा नहिं दूषित अज आदिक पशु का संहार।'

यह मत भी अविवेक पूर्ण वा धर्म शून्य है निपट, निदान–
प्राणिघात वा मांसदान ये हैं सदैव द्वय पाप महान्॥

भावार्थः–'गृहागत पूज्य पुरुषों के निमित्त उनका सत्कार करने के लिये छाग (बकरा) आदि प्राणियों के घात करने (उन्हें मार कर खिलाने) में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई दोष नहीं है' ऐसा विचार कर अतिथियों के निमित्त भी जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

अतिथि सत्कार उसकी यथोचित सेवा सुश्रूषा एवं शुद्ध भोजन पान द्वारा किया जाना ही उचित है, न कि किसी मूक प्राणी का वध कर हिंसा कार्य द्वारा। अतिथि सत्कार में हिंसा को पाप न मानना भी अज्ञानता ही है–जिससे बचना चाहिए।

(८२)

अन्नादि के स्थान पर एक बड़े प्राणी का घात भी हिंसा

(चतुर्थ असमञ्जसता का निराकरण)

बहुसत्वघातजनिता – दशनाद्वरमेकसत्वधातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यम् न महासत्वस्य हिंसनं जातु।।८२।।

'अन्नादिक भक्षण में होता बहु संख्यक जीवों का घात–
जिसे निवारण हेतु श्रेष्ठ है एक बृहत्पशु का बध, भ्रात!'
इस आशय से जो महिषादिक पशु-बध कर करना आहार–
धर्मीजन हित सतत वर्ज्य है उक्त बुद्धिगत भ्रम साकार।

भावार्थः–'बहुत से अन्न फलादि एकेन्द्रियों के घात से उत्पन्न भोजन करने की अपेक्षा एक बड़े प्राणी (गाय, भैंस, मृगादि) को मारकर उनके कलेवर से भोजन करना श्रेष्ठ है' ऐसा विचार अन्न और शाकाहार का परित्याग कर पशु पक्षियों को मार कर भक्षण नहीं करना चाहिए।

दो इन्द्रिय एक जीव के घात करने में असंख्य एकेन्द्रिय जीवों के घात से अधिक पाप होता है। इसी प्रकार अनेक दो इन्द्रिय जीवों के घात करने से अधिक पाप एक ते इन्द्रिय जीव के घात में होता है और अनेक ते इन्द्रियों के घात से अधिक पाप एक चार इन्द्रिय जीव के घात में तथा अनेक चार इन्द्रिय जीवों के घात से अधिक पाप एक पंचेन्द्रिय असैनी जीव के घात में एवं अनेक असैनियों के घात से अधिक पाप एक सैनी पंचेन्द्रिय के घात में होता है। क्योंकि इनके घात में क्रमशः कषाय की बहुलता पाई जाती है, जो पाप का मूल कारण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८३)

बहु जीव संरक्षण की भावना से हिंसक जीव का बध करना भी अपराध है
(पंचम असमञ्जस का निराकरण)

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीव हरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्वानाम् ।।८३।।

'अगणित पशुओं का जीवन में सिंहादिक करते संहार—
यदि समाप्त कर दें इन को तदि संरक्षित हों जीव अपार।'
यों विचार हिंसक जीवों का कर शिकार करना अवसान—
भी निषिद्ध है, यतः प्राणिबध मात्र पाप है दुख की खान ।।

भावार्थः—'इस एक हिंसक (सिंहादि) प्राणी के मार देने से अन्य बहुत से जीवों की रक्षा हो जावेगी' ऐसा विचार कर हिंसक जीवों का वध भी नहीं करना चाहिए।

यदि हिंसक जीवों की हिंसा इसलिये की जावेगी कि यह हिंसक है—तब ऐसे अनेक हिंसक जीवों की हिंसा करने के कारण आप भी हिंसक या महाहिंसक ही सिद्ध होंगे। ऐसी दशा में कोई तीसरा व्यक्ति आपको हिंसक मान मारना ठीक समझेगा। तथा चौथा व्यक्ति आपको मारने के कारण उस तीसरे व्यक्ति की हिंसा करेगा इस प्रकार हिंसा के कार्य में कमी न आकर उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जायगी जिससे हिंसा का कहीं अंत न होगा।

(८४)

किसी हिंसक व्यक्ति पर दया कर उसी का बध करना भी मूर्खता है।
(षष्टम असमञ्जस का निराकरण)

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः।।८४।।

हिंसक जन जब तक जीवित हैं प्राणिघात कर नित्य नवीन—
जीवन में बहु पाप करेंगे, उनके हित में अतः प्रवीण !
उन सब का संहार श्रेष्ठ गिन दुष्ट जनों पर करुणा धार—
क्वचित् कदाचित् भी न उचित है कर देना उनका संहार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—'वहुत से प्राणियों का घात करने वाले ये हिंसक प्राणी जव तक जीवित रहेंगे हिंसा द्वारा अपने जीवन में पाप का न जाने कितना बंध करेंगे, अतः इन्हें पाप बंध से बचाने के लिये यदि अभी मार दिया जावे तो अति उत्तम होगा' ऐसा विचार कर हिंसक पर दया कर उसकी हिंसा भी नहीं करना चाहिए।

हिंसक जीव मर कर पुनः हिंसा नहीं करेगा इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। इसके सिवाय उसे मारते समय उसमें वेदना और द्वेष का भाव ही पैदा होगा उससे उसकी कुयोनि में ही उत्पत्ति होगी जहाँ वह और भी क्रूर होकर विशेष पाप करेगा। हमें भी उसको हिंसा करने से पापबंध होगा ही, अतः कुतर्कों के सहारे किसी की भी हिंसा न करना ही श्रेयस्कर है।

(८५)

दुखी प्राणी के दुखों का अंत करने के उद्देश्य से उनका बध भी युक्त नहीं
(सप्तम असमंजस का निराकरण)

बहुदुःखसंज्ञापिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

दुख संतप्त जनों का तत्क्षण दुःखों से करने परित्राण—
अन्य उपाय न पा उनका ही बध करना भी भ्रांति महान।
यतः कृत्य अविवेक पूर्ण यह है अविचारित रम्य-मलीन—
मरकर भी वह स्वकृत कर्मफल भोगेगा बेचारा दीन।

भावार्थः—"दुःखों की असह्य वेदना से पीड़ित यह जीव यदि इसी समय मार दिया जावे तो शीघ्र ही दुःखों से छूट जावेगा" ऐसा भ्रमपूर्ण विचार कर दुखी जीवों को भी नहीं मारना चाहिए।

कोई भी दुखी जीव मर कर दुखों से मुक्त नहीं हो जाता; क्योंकि जव तक जिसके अशुभ कर्मों का उदय रहेगा तव तक उसे दुख भोगना ही पड़ेगा। यदि उसके अशुभ कर्मों का बंधन होगा तो अगले भव में भी उनके उदय से दुःख भोगना ही पड़ेगा। इसके सिवाय दुखी अवस्था में मारने से उसके संक्लेश भावों में और भी वृद्धि होगी जिससे नये अशुभ कर्मों का बंध होकर उसे अगले भव में अधिकाधिक दुख ही भोगना पड़ेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके अतिरिक्त यदि दुखी जीवों पर करुणाभाव उत्पन्न हुआ है तो दयालु पुरुषों को उनके दुख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि मारना चाहिए। दुखी जीवों को दुखों से छुड़ाने के अभिप्राय से उन्हें मार डालना इससे अधिक मूर्खता क्या हो सकती है ?

(८६)

सुखी जनों को परलोक में सुखी बने रहने के उद्देश्य से उनका बध करना भी मूर्खता है

(अष्टम असमंजस का निराकरण)

कृच्छ्रेणसुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिनएव।
इति तर्क मण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

'हो सुख प्राप्ति कष्ट से संभव, अतः सुखी जन यदि तत्काल—
मारा जाये तदि मर कर वह सुख पायेगा' यों करवाल—
गह कुतर्क की सुखनिमग्नजन का करना संहार, महान—
है कुकृत्य ही, यतः धर्मविन सुख पा सकता कौन पुमान् ?

भावार्थः—"सुख की प्राप्ति कठिनता से होती है अतः इस जीव को यदि सुखी अवस्था में मार दिया जावे तो यह नवीन जन्म धारण कर सुखी ही होगा" ऐसे कुविचारों द्वारा सुखी प्राणियों का बध भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि उस जीव ने इस भव में अशुभ कर्मों का बंध किया होगा या पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का जब कभी भी उदय आवेगा तब उसके फला स्वरूप दुखों के अनुभव से उसे कौन बचावेगा ?

दूसरी बात यह है कि सुखी अवस्था में मारने से उसके भावों में संक्लेश उत्पन्न होने से अशुभ कर्मों का बंध होकर उसे अगले भव में सुख की अपेक्षा दुख ही भोगना पड़ेगा जिससे उसका वध करने वाला भी पापी ही कहलावेगा।

फिर किसी को सुखी या दुखी बना देना किसी दूसरे के आधीन न होकर उसके कर्मों के आधीन है। सभी जीव अपने २ किये गये पुण्य या पाप का फल सुख दुख के रूप में स्वयं ही भोगा करते हैं ? वाह्य निमित्त भी उन्हें वैसे ही मिल जाया करते हैं, अतः सुखी जीवों को आगे भी सुखी बनाये रखने के लिए उन्हें मारना महा मूर्खता का कार्य है, जिससे बचना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८७)

समाधि निमग्न गुरुजनों का शिरश्छेद भी महा पातक है
(नवम असमंजस का निराकरण)

उपलब्धिसुगतिसाधन समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येणशिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ।।८७।।

गुरु समाधि में संस्थित हों जब तब उनका कल्याण विचार–
शिरश्छेद मत करो, हृदय में चिंतन करते निम्न प्रकार–
'है समाधि संस्थिति अति दुर्लभ, हैं समाँधि में गुरु संलीन–
इस क्षण यदि बध कर दें तदि ये पद पायेंगे परम नवीन ।

भावार्थः–जब गुरु सुगति के साधन स्वरूप समाधि में लीन हों तब धर्माभिलाषी शिष्य द्वारा उनका शिरश्छेद कर डालना–यह विचार कर कि अत्यंत अभ्यास पूर्वक समाधि को प्राप्त गुरुजी अभी समाधि में लीन हैं, इस समय यदि इन्हें मार दिया जावे तो सद्गति को प्राप्त हो जावेंगे–यह विचार भी महामूर्खता और पाप है ।

समाधि में लीन गुरु का संहार करने से उनकी समाधि भंग होकर प्रायः संक्लेश परिणामों से ही मरण होगा–जिससे वे सद्गति के पात्र न होकर दुर्गति के ही पात्र हो जावेंगे ।

(८८)

खार पटिक के छल पूर्ण सिद्धांत का निराकरण

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैवखारपटिकानाम् ।।८८।।

'भग्न किये घट पंछी पाता मुक्ति यथा त्यों जन संभ्रांत–
देह छिन्न होते ही पाता परमधाम निर्वाण नितांत ।
है धन लुब्धक खार पटिक का यह कितना भ्रामक सिद्धांत !
स्व पर वंचना कारक होकर जो है निपट पाप संक्रांत ।

भावार्थः–घड़े में बंद चिड़िया को घट फोड़ के उसे उड़ाकर (वह मुक्त हुई ऐसा दिखा कर) अपने शिष्यों के शिरश्छेद द्वारा उन्हें मुक्ति मिल जाएगी ऐसा विश्वास दिला उन्हें मार कर धन छीनने वाले कपटी खार पटिकों का सिद्धांत भी विश्वसनीय नहीं है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वकाल में 'खारपटिक' नाम का एक मत था। जिसके अनुयायी अपने शिष्यों को पहिले घड़े में चिड़िया बंद कर घड़ा फोड़ उसे उड़ा देते थे और कहते थे कि देखो, जैसे घड़े के फूट जाने से यह चिड़िया मुक्त हो गई वैसे ही मनुष्य की आत्मा भी शरीर में से शिरश्छेद किये जाने पर मुक्त हो जाती है। इस प्रकार अपने शिष्यों को विश्वास दिला कर उनका शिरश्छेद कर देते थे और उनके धन धान्यादि को अपने अधिकार में ले लेते थे। आचार्य श्री ने इस छल पूर्ण पाखंड पर विश्वास न करने का इस कारिका में उपदेश दिया है। ताकि लोग धर्म की ओट लेकर ठगने वाले ठगों से सावधान रहें।

अपने क्षुद्र स्वार्थों को सिद्ध करने के लिये मनुष्य धर्म के नाम पर कैसे २ छल पूर्ण सिद्धांतों का आविष्कार करता रहता है; यह उक्त कारिका द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

(८९)

क्षुधार्त्त को अपना मांस दान करना भी उचित नहीं

दृष्ट्वापरंपुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥८९॥

यदि क्षुधार्त्त जन उदर पूर्ति हित सम्मुख आता दिखे उदास—
तदि निज माँस दान कर करना क्षुधा शाँति का त्वरित प्रयास—
भी निषिद्ध है, यतः पाप है स्वात्मघात भी सर्वांगीण—
माँसदान भी हिंसा ही है अतः हेय है नियमाधीन।

भावार्थः—यह मान कर कि भूख से पीड़ित जनों को दान देना परम धर्म है। अतः सामने आये हुए क्षुधार्त्त मनुष्य को उसकी क्षुधा शाँति हेतु अपने शरीर का माँस काट कर खिलाना भी अज्ञानता का द्योतक है। इसमें आत्मघात होने के कारण उसे महा पाप का बंध होता है। अतः ऐसा नहीं करना चाहिए।

आत्म घात करना—चाहे वह कषाय वश किया जावे या अज्ञानता वश-पाप ही है। अतः धर्म क्या है और पाप क्या है ? इसके मर्म को समझ कर विवेक पूर्वक अहिंसा धर्म का पालन करना ही उचित है।

हिंसा के भेद

हिंसा के स्थूल रूप में दो भेद हैं:- (१) भाव हिंसा (२) द्रव्य हिंसा। भाव हिंसा दो प्रकार की है—स्वभाव हिंसा—पर भाव हिंसा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभाव हिंसा:—कषायें (राग द्वेष) उत्पन्न कर अपनी आत्मा को आकुल व्याकुल वनाना स्वभाव हिंसा है।

परभाव हिंसा:—राग द्वेषवश दूसरों के चित्त का दुखाना पर भाव हिंसा है।

इसी प्रकार द्रव्य हिंसा भी दो प्रकार की है—स्वद्रव्य हिंसा—पर द्रव्य हिंसा।

स्वद्रव्य हिंसा—कषाय वश अपने शरीर या इन्द्रियादि द्रव्य प्राणों का उच्छेद करना।

परद्रव्य हिंसा:—कषायवश त्रसों वा स्थावर जीवों के द्रव्य प्राणों का घात करना।

इन सभी हिंसाओं में स्वभाव हिंसा का प्रमुख स्थान है; क्योंकि वह सभी प्रकार की हिंसाओं में व्यापक वन कर रहती है।

(९०)

भ्रमों का निवारण सद्गुरु द्वारा ही संभव है

कोनामविशतिमोहं नयभङ्गविशारदानुपास्यगुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥९०॥

है विशुद्ध मति कौन यहाँ जो पा सद्गुरू का शरण उदार—
आर्हत् मत का मर्म जान भी अपनाए भ्रम पूर्ण विचार ?
सद्गुरु हों नय भंग विशारद दर्शन ज्ञान चरित्र निधान—
स्वयं सतत निर्भ्रांत रहें पुनि करें अज्ञ को ज्ञान प्रदान।

भावार्थः—जिनधर्म के अनेकाँतात्मक सिद्धांत में निष्णात एवं नय विशारद विद्वान् गुरुओं की उपासना कर हिंसा और अहिंसा के स्वरूप एवं उनके गूढ़ रहस्यों को समझ लेने वाला ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो उपर्युक्त असमञ्जसों में फँस कर भ्रमित हुआ अहिंसा के परिपालन करने से विमुख होगा ?

निष्कर्ष यह कि जिनमत के अनेकाँतात्मक रहस्य को भली भाँति नयों की दृष्टियों से समझ लेने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति हेयोपादेय की जानकारी प्राप्त कर हिंसा के त्याग और अहिंसा के परिपालन में त्रुटि नहीं कर सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(९१)

अनृत (असत्य) का स्वरूप

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ।।९१।।

जो प्रमाद वश जन अंतस् में कर अपने कलुषित परिणाम–
असद्वचन संभाषण करता वही अनृत है बहु दुखधाम ।
यह अध होता सिद्ध नियम से हिंसा का ही एक प्रकार ।
परमागम में प्रतिपादित है अनृत मुख्यतः चार प्रकार ।।

भावार्थः–प्रमाद के योग से (कषायों के आवेश में) जो कुछ भी अन्यथा वचन (असद्वचन) मुख से निकलता है उसे अनृत (असत्य) कहते हैं। इसके चार भेद हैं ।

(९२)

असत्य का प्रथम प्रकार

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिद्धयते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ।।९२।।

वस्तु अवस्थित हो सत्ता में जहाँ और जब या जिस रूप–
वचन द्वार उसका निषेध कर भाषण करना असत्स्वरूप ।
देवदत्त के होने पर भी 'यहाँ न है' यों कहना जान–
आर्य वृन्द ने प्रथम अनृत यह दरशाया जिन सूत्र प्रमाण ।

भावार्थः–जो वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव से (जहाँ जिस रूप में) विद्यमान है उसका वचन द्वारा निषेध करना (नकारना) कि वह नहीं है--यह प्रथम प्रकार का असत्य है। जैसे देवदत्त के रहते हुए भी कह देना कि वह यहाँ नहीं है ।

इस प्रकार का कथन बिना कलुषित भावों के नहीं किया जाता। देवदत्त नाम का मनुष्य एक द्रव्य है। जहाँ वह विद्यमान है, वह उसका क्षेत्र है। वर्तमान उसका काल है और मनुष्य पर्याय या युवा, बाल, वृद्धादि रूप अवस्थाएँ अथवा क्रोधी मानी आदि रूप होना उसका भाव है। इस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-रूप देवदत्त के होते हुए भी उसका किसी भी रूप में निषेध करना प्रथम असत्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(९३)

असत्य का द्वितीय प्रकार

असदपि हि वस्तुरूपं यत्रपरक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्तिघटः ।।९३।।

पुनि जिसका अस्तित्व नहीं है देश काल वा भावस्वरूप—
उसका भी अस्तित्व जताना वचन द्वार कह कर सद्रूप।
यह द्वितीय है भेद अनृत का यथा न घट हो; किन्तु प्रवीण !
'घट है' यों मिथ्या सम्भाषण करना कर परिणाम मलीन।

भावार्थः—अविद्यमान वस्तु का पर द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव के रूप में वचन द्वारा प्रकट करना द्वितीय असत्य है। जैसे घड़े के न रहने पर भी कहना कि यहाँ घड़ा है।

इस प्रकार का वचन भी मायाचारादि कषाय वश ही कहा जाता है।

(९४)

असत्य का तृतीय प्रकार

वस्तुसदपिस्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः ।।९४।।

वस्तु अवस्थित है जो जैसी क्षेत्र काल भावादिक रूप
उससे भिन्न प्ररूपण करना है तृतीय यह अनृत स्वरूप।
गौ को अश्व निवेदन करना या तेरह को कहना तीन।
एवं मिथ्या संभाषण भी है निताँत सत्यांश विहीन।

भावार्थः—जो वस्तु जिस रूप में है उसे उस रूप न कह कर अन्यथा कथन करना तृतीय असत्य है। जैसे गाय को घोड़ा कहना। अथवा नकली वस्तु को असली कहना। यह भी लोभादि के वश कहा जाता है।

(९५)

असत्य का चतुर्थ प्रकार

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपंयत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ।।९५।।

अनृत भेद जो शेष रहा वह प्रतिपादित है तीन प्रकार—
गर्हित वा सावद्य, अप्रिय वच सूत्र विहित संज्ञा निर्धार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—गर्हित, सावद्य, और अप्रिय इन तीन प्रकार के वचनों का प्रयोग चतुर्थ प्रकार का असत्य है।

आगे इन तीनों प्रकार के वचनों का स्पष्टीकरण दिया जाता है।

(९६)

गर्हित वचन

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपियदुत्सूत्रं तत्सर्वम् गर्हितं गदितम् ।।९६।।

राग द्वेषवश चुगली करना—परनिंदा पर का परिहास।
गोष्ठी मध्य अनर्गल होकर अर्थ शून्य करना बकवास।
द्विविधा जनक असत्संभाषण, अथवा करना वाक्प्रहार—
सूत्र विरुद्ध कथन ये सब हैं गर्हित नाम वचन व्यापार।

भावार्थः—पैशून्य (चुगली) हास्य (मस्खरी) कर्कश (कठोर मर्मभेदी) वचन तथा असमञ्जस (द्विविधाजनक) प्रलपित (बकवास भरे) एवं शास्त्र विरुद्ध (उत्सूत्र) वचन तथा ऐसे ही अन्य समस्त प्रकार के निंद्य वचनों को गर्हित वचन कहते हैं।

इन वचनों के प्रयोग करने में कषाय का सद्भाव पाया जाता है अतः ये सब असत्य वचन हैं जिनका व्रती त्याग करता है।

(९७)

सावद्य वचन

छेदनभेदनमारण कर्षण वाणिज्यचौर्य्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ।।९७।।

कर्ण नासिका छेदन भेदन मारण शोषणादि व्यवहार।
चौर्य कर्म संबर्द्धक अपने मुख से प्रकटाना उद्गार।
ये समस्त सावद्य वचन हैं श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण।
जिन से प्रेरित हो जन करते हिंसादिक दुष्कर्म महान।

भावार्थः—छेदने, भेदने, मारने, घसीटने, हिंसा गर्भित वाणिज्य करने, चोरी करने तथा ऐसे ही अन्य पाप भाव युक्त वचनों को सावद्य वचन कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवद्य शब्द का अर्थ पाप है; अतएव पाप भाव युक्त वचनों को सावद्य वचन कहते हैं। मार डालूँगा या मारो, काटो, टुकड़े २ कर डालो, माँस खाओ, शराब पियो, मछलियों को मारो या निर्यात करो, चोरी करो, जेब काटो, झाँसा दो आदि २ पाप प्रवर्त्तक वचनों को सावद्य वचन ही समझना चाहिए जो अहिंसा व्रती को त्याज्य हैं।

(९८)

अप्रिय वचन

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

अप्रिय वचन वे सूत्र विहित हैं प्रीति भंग हो जिन के द्वार—
अथवा भय-भ्रम समुत्पन्न हो चित्त खिन्न हो विविध प्रकार
बैर शोक संताप कलह कर असद्वचन-व्यापार प्रवीण !
अप्रिय अनृत के अंतर्गत हैं अतः त्याज्य हैं सर्वांगीण।

भावार्थः—दूसरों को अप्रीति कारक, भयोत्पादक, वैर-शोक या कलह कारक संताप जनक एवं अन्य भी इसी प्रकार के दुर्वचनों को अप्रियवचन कहा जाता है।

दो मित्रों, भाइयों, जातियों, समाजों या देशों में फूट डालने या लड़ाने वाले अथवा अन्य प्रकार से शोक संताप भय पीड़ा आदि को जन्म देने वाले वचन प्रिय न होने से अप्रिय कहलाते हैं—जिनका कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये सब असत्य के ही अंग हैं।

(९९)

असद्वचन हिंसा का ही अंग क्यों ?

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतु कथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि यस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

उक्त असद्वचनों का कारण है प्रमाद ही एक प्रधान—
जिसके वश मानव करता है उपर्युक्त सब असद्विधान।
विन प्रमाद संभव नहिं कलुषित गर्हित वचनों का व्यापार,
अनृत वचन एवं समग्रतः हिंसा ही है एक प्रकार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—उल्लिखित सभी प्रकार के वचनों का प्रयोग प्रमाद (कषाय अर्थात् राग द्वेष) भावों द्वारा किया जाता है, अतः ये सब हिंसा में गर्भित हो जाते हैं।

(१००)

हेयोपादेय का उपदेश अनृत में गर्भित नहीं है।

हेतौप्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

अनृत वचन में जबकि विहित है इक प्रमाद ही एक प्रधान—
धर्म देशना असद्वचन नहिं कहलाती जिन सूत्र-प्रमाण।
हेय त्याग वा उपादेय का ग्रहण रूप उपदेश सदैव—
ज्ञानी गुरु द्वारा जन हित में है असत्य नहिं बंधु! कदैव।

भावार्थः—वचनों में असत्यता का मूल कारण कषाय भावों का होना है—अर्थात् जो वचन कषाय भावों से प्रेरित होकर बोला जाता है वही असत्य कहलाता है। यतः पापों का त्याग कर धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करने का उपदेश स्व पर अनुग्रह एवं धर्म प्रभावना हेतु किया जाता है—जिसमें पापों और कषायों के त्याग कराने की सद्भावना पाई जाती है अतः कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का उपदेश असत्य में सम्मिलित नहीं है।

संभव है पापों, विषय कषायों एवं दुर्व्यसनों में लिप्त कुछ लोगों को हित का उपदेश उनके चित्त को प्यारा न लगे; किंतु उपदेश दाता की इसमें उनके कल्याण की सद्भावना रहने से उसे असत्य का दोष नहीं लगता।

(१०१)

पूर्ण अनृत का त्याग करने में असमर्थों को बहुभाग त्याग की प्रेरणा

भोगोपभोगासाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपिनित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

यदि भोगोपभोग संसाधन मात्र अनृतका करने त्याग—
हो जाए असमर्थ गृही तदि तजै अनृत का वह बहु भाग।
कोई भी व्रत टिक पाता नहिं धारक हो यदि शक्ति विहीन।
शक्ति प्रमित अतएव ग्राह्य है व्रत नियमादि सदैव नवीन!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—भोगोपभोग के साधन मात्र असत्य वचन का जो लोग त्याग करने में असमर्थ है उन्हें भोगोपभोग के साधन सावद्य वचनों के सिवाय अन्य समस्त अनृत वचनों तथा गर्हित एवं अप्रिय वचनों का त्याग अवश्य करना चाहिए।

(१०२)

स्तेय (चोरी) का लक्षण

अवितीर्णस्यग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्यहेतुत्वात् ।।१०२।।

वितरण विन पर द्रव्य अपहरण करना निज मानस कर म्लान।
यह कुकर्म सर्वत्र विदित है चोरी या कि अदत्तादान।
इससे भी निश्चित होते हैं स्वपर प्राण संतप्त नितांत।
अतः कृत्य यह हिंसा में ही गर्भित होता है सर्वांत—

भावार्थः—लोभादि कषाय (प्रमाद) के वशीभूत होकर विना दिये अन्य जनों की परिग्रहीत (दूसरों के स्वामित्व की) वस्तु को ग्रहण करना स्तेय या चोरी कहलाती है। यह स्तेय भी हिंसा का अंग है; क्योंकि इसमें हिंसा का होना पाया जाता है। जिस की वस्तु चुराई जाती है उसको दुख होता है अतः यह पर हिंसा है। तथा चोरी करने वाले के मन में रागादि कषाय भावों की उत्पत्ति होने से स्वहिंसा भी होती ही है।

(१०३)

उक्त कथन का समर्थन

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्यप्राणान् यो यस्यजनोहरत्यर्थान् ।।१०३।।

धन धान्यादिक बाह्य वस्तुएं, हैं जन जीवन के आधार—
अतः इन्हें जन प्राणों से भी अधिक किया करते हैं प्यार।
फलतः अन्य वस्तु अपहर्त्ता अपहारक ही है-पर प्राण।
चौर्य कर्म यों स्वयं सिद्ध है हिंसा का ही अंग प्रधान।

भावार्थः—यतः धनादि वस्तुएँ मनुष्यों के एक प्रकार से वाह्य प्राण कहलाते हैं। यहाँ तक कि उन्हें कोई कोई लोग ग्यारहवाँ प्राण भी कहते हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि वे उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होती हैं। अतः जो व्यक्ति किसी की धनादि वस्तु को अपहरण करता है वह एक प्रकार से उसके प्राणों का ही अपहरण करता है।

(१०४)

चोरी में हिंसा की अव्याप्ति नहीं

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ।।१०४।।

हिंसा की अव्याप्ति नहीं है पर द्रव्यापहरण में रंच ।
हो प्रमाद वश ही रचता है व्यक्ति सदा अपहरण प्रपंच ।
अंतस् में हो प्रथम लोभ का अपहर्ता में प्रादुर्भाव,
अतः सुधट हो जाती हिंसा इस कुकर्म में स्वतः स्वभाव ।

भावार्थः—अन्य द्वारा स्वीकृत या अधिकृत धन को बिना दिये ग्रहण करने में चूंकि आत्मा में राग (लोभ) का सद्भाव पाया जाता है अतः हिंसा के साथ स्तेय की अव्याप्ति नहीं है अर्थात् चोरी का हिंसा में समावेश सरलता से हो जाता है।

(१०५)

चोरी के उक्त लक्षण में अति व्याप्ति भी नहीं।

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् ।
अपिकर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ।।१०५।।

पर व्यापहरण लक्षण में नहिं अतिव्याप्ति दोष है रंच ।
वीतराग के कर्म ग्रहण में नहिं प्रमाद गत योग प्रपञ्च ।
यदि प्रमाद का योग न हो तो हिंसा भी नहिं हो तत्काल ।
अतः वीतरागी हिंसक नहिं हो सकता है सिद्ध त्रिकाल ।।

भावार्थः—वीतराग पुरुषों में बिना दिये कर्म नोकर्म रूप पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण होने में चूंकि प्रमत्त योग का सद्भाव नहीं पाया जाता अतः चोरी के उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी नहीं हैं। क्योंकि प्रमाद के अभाव में कर्म नोकर्म वर्गणाओं के ग्रहण होने पर भी वीतरागी अर्हंत को चोरी का पात्र नहीं होना पड़ता अतः वे हिंसा से मुक्त रहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार चोरी में हिंसा का लक्षण अति व्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोषों से रहित भली भाँति घटित हो जाता है।

(१०६)

गृहस्थ को पर द्रव्यापहरण त्याग की प्रेरणा

असमर्था ये कर्त्तुम् निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

जलाशयों से जल, खानों से मृत्तिकादि संग्रहण नितांत–
तज न सके-तदि इतर वस्तुएँ विना दिये नहिं ले संभ्रांत।
यतः तत्व विनिवृत्ति रूप ही श्रेयस्कर है सूत्र प्रमाण।
राग त्याग से है अचौर्य व्रत धर्म अहिंसा अंग प्रधान।

भावार्थः–जो व्यक्ति विना दिये जलाशयों (कुआ वावड़ी आदि) से जल भरने (अथवा खान से मृत्तिकादि लेने) का त्याग करने में असमर्थ हैं उन्हें जल (और मिट्टी के सिवाय) अन्य समस्त पर वस्तुओं को विना दिये ग्रहण करने का त्याग सदा के लिए कर देना चाहिए।

चोरी का सर्वथा त्याग मुनिराज ही कर सकते हैं, क्योंकि वे विना दिये जल भी ग्रहण नहीं करते। किन्तु गृहस्थ द्वारा कुए आदि से विना दिये जलादि ग्रहण करने में आ जाता है अतः उसे सब के लिये मुक्त जलाशयों से जलादि के सिवाय अन्य समस्त छोटी वड़ी वस्तुओं को विना दिये ग्रहण करने के त्याग का विधान किया गया है।

(१०७)

अब्रह्म (कुशील) मैथुन का स्वरूप

यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्यसर्वत्रसद्भावात् ॥१०७॥

वेद कर्म के उदयाश्रित ही जाग्रत होता काम विकार–
तद्वश मैथुन क्रिया जीव की है अब्रह्म हिंसा साकार।

द्रव्य भाव प्राणों का इसमें हो विनाश निश्चित तत्काल।
अतः कर्म यह पाप विहित है ब्रह्मचर्य है धर्म विशाल॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—मोह कर्म की वेद प्रकृति के उदय जन्य राग के योग से जो मैथुन (स्त्री-पुरुष रमण रूप) क्रिया की जाती है वह अब्रह्म (कुशील) नामक पाप है। इसमें भी प्राणि वध का सर्वत्र सद्भाव होने से हिंसा होती है।

मिथुन क्रिया में स्त्री की योनि में असंख्य त्रसजीवों का घात होने से हिंसा होती है तथा स्त्री-पुरुषों मे रागभाव रूप आकुलता के होने से स्वभाव हिंसा एवं वीर्यक्षयादि होने एवं शिथिलतादि आने के कारण स्वद्रव्य हिंसा भी होती है अतः मैथुन भी हिंसा का ही एक अंग है।

(१०८)

मैथुन में हिंसा का सद्भाव

हिंस्यन्तेतिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
वहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ।।१०८।।

यथा तिलों से व्याप्त नली में लोह शलाका कर संतप्त—
क्षेपण करते तिल समग्रतः ज्यों विनष्ट हों, होकर तप्त।
मिथुन क्रिया में त्यों मरते हैं योनिमध्य त्रस जीव अनंत।
अतः कर्म यह त्याज्य विहित है द्रव्य-भाव द्वय हिंसावंत।

भावार्थः—जैसे तिलों से भरी हुई नाली (नलिका) में तप्त लोहे की शलाका (सलाई) डालने से तिल नष्ट होते हैं—जल जाते हैं उसी प्रकार मैथुन कर्म से स्त्री की योनि में स्थित सूक्ष्म जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

(१०९-११०)

अनंग क्रीड़ादि में भी हिंसा

यदपिक्रियतेकिञ्चिन् मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापिभवतिहिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ।।१०९।।
ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति नहि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ।।११०।।

जो अनंग क्रीड़ादिक करते—काम तीव्रता वश जन मत्त—
उसमें भी हिंसा व्यापक है, राग तंत्र है यतः समस्त।
तज न सकें यदि स्वस्त्री सेवन—मोह विवश जो जन संभ्रांत
उन्हें परस्त्री सेवन तज कर अणुव्रत है संग्राह्य नितांत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—जो व्यक्ति काम की तीव्रता वश अनंग क्रीड़ा (कामांगों के सिवाय अन्य अंगों से काम चेष्टा) करते हैं वे भी हिंसा पाप से मुक्त नहीं हैं; क्योंकि उसमें भी रागादि विकार भावों की विशेषता पाई जाती है—विना राग के अनंग क्रीड़ादि कामचेष्टाएँ संभव नहीं हैं।

(यद्यपि पाप से वचने के लिये स्वस्त्री-परस्त्री सभी के साथ विषय सेवन का त्याग इष्ट है; किंतु) जो लोग मोहवश सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग करने में असमर्थ है उन्हें अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों का त्याग अवश्य कर देना चाहिए।

स्व एवं पर सम्पूर्ण स्त्री सेवन का त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत है तथा केवल स्व स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों का त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

(१११)

परिग्रह का स्वरूप

या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

जो ममत्व परिणाम जीव के मोहोदय वश हों निःशेष।
उनकी ही मूर्छा संज्ञा है—और परिग्रह भी सविशेष—
पर पदार्थ प्रति मूर्च्छित होना राग बिना संभव नहि लेश
अतः परिग्रह भी हिंसा है जो सुत्याज्य है बंधु ! अशेष।

भावार्थः—परिग्रह मूर्छा को कहते हैं और मोह कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो ममत्व परिणाम (पर वस्तु के प्रति ममताभाव) वही मूर्छा है।

(११२)

परिग्रह का मूर्छा लक्षण निर्दोष है

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटाव्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थोमूर्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः ॥११२॥

परिग्रह का मूर्छा लक्षण ही दोष मुक्त है विभु सतान्ति।
परिग्रहत्व की हिंसा के सँग यतः व्याप्ति है सिद्ध नितांत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य परिग्रह विना व्यक्ति यदि अंतस् में है मूर्छावान्—
निश्चित ही वह परिग्रही है— निर्धन जन ज्यों तृष्णावान् ।

भावार्थः—परिग्रह का मूर्छा लक्षण उसमें भलीभाँति घटित होता है । क्योंकि बाह्य परिग्रह (वस्तुओं का संग्रह) अपने पास न भी हो तो भी मूर्छावान्-जिसमें अन्य वस्तुओं के प्रति ममता भाव है या संग्रह की भावना है—परिग्रही ही कहलाता है ।

जैसे किसी गरीब निर्धन या भिखारी के पास बाह्य वस्तुएँ नहीं भी होती तो भी उसके मन में लालसा (संग्रह की तृष्णा) तो रहती ही है अतः वह भावनात्मक (मूर्छावान्) होने से परिग्रही है ।

(११३)

शंका समाधान

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपिबहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ।।११३।।

'बाह्य वस्तुएँ तदा परिग्रह—किंचित् भी नहिं होंगी सिद्ध ।'
यह न कहो—वहिरंग वस्तुएँ मूर्छा की हैं हेतु सुसिद्ध ।
बाह्‌य परिग्रह क्यों रखता फिर व्यक्ति न है यदि मूर्छावान् ?
बाह्य वस्तु में परिग्रहत्व यों होता है संसिद्ध, निदान ।

भावार्थः—यदि मूर्छा (ममत्व भाव) ही परिग्रह है तो फिर वहिरंग-धन धान्यादि-परिग्रह नहीं कहलायेंगे ? इसका उत्तर यह है कि बाह्य परिग्रह भी चूँकि मूर्छा का सातिशय (सविशेष) निमित्त है, अतः उसे भी परिग्रह कहा जाता है ।

यदि बाह्य वस्तुएँ न हों तो उनके संग्रह करने की भावना भी (निराधार) नहीं होती है । तथा उनके (बाह्य वस्तुओं के) देखने, श्रवण करने, चिंतन करने से अनुराग उत्पन्न होता तथा उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना द्वारा राग द्वेष भी उत्पन्न होता है जवकि उनके त्याग करने से मूर्छा और राग द्वेष भी कम होता है अतः उन्हें भी परिग्रह संज्ञा दी गई है ।

(११४)

पुनः शंका-समाधान

एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ।।११४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यों प्रवीण ! तव उक्त कथन में है अति व्याप्ति दोष बलवान् ।
यह न कहो–प्रभु वीतराग को कौन कहेगा मूर्छावान् ?
केवल योग जन्य ही होता–है अर्हत् में आस्रव लेश ।
प्रातिहार्य आदिक में हो नहिं–जिन्हें राग वा मूर्छा लेश ।

भावार्थः–यदि आप वाह्य परिग्रह को मूर्छा का निमित्त कारण कहते हो तो परिग्रह के पूर्वोक्त लक्षण की अति व्याप्ति हो जावेगी; क्योंकि अर्हंत भगवान् के कर्म वर्गणाओं का ग्रहण देखा जाता है ।

इस शंका का समाधान यह है कि अतिव्याप्ति नहीं होगी । क्योंकि वीतराग भगवान् के उन कर्म वर्गणाओं के ग्रहण में कोई मूर्छा (ममत्व) नहीं है । और मूर्छा न होने से कर्म वर्गणाएँ उनके लिये परिग्रह सिद्ध नहीं होतीं, अतः वीतरागी परिग्रही नहीं है ।

(११५-११६)

परिग्रह के भेद व अंतरंग परिग्रह

अतिसंक्षेपाद्द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च ।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवतिद्विविधो द्वितीयस्तु ।।११५।।
मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ।।११६।।

अंतरंग बहिरंग भेद कर संग विहित है उभय प्रकार ।
अंतरंग गत भेद चतुर्दश बाह्य संग दश धा निर्धार ।
मिथ्यादर्शन क्रोध मान पुनि–माया, लोभ, अरति, रति, हास,
शोक, जुगुप्सा, भय, वेदत्रय, अंतस् संग विभेद समास ।

भावार्थः–अत्यंत संक्षेप में परिग्रह दो प्रकार का है । (१) अंतरंग (२) बहिरंग । इनमें पहिला अंतरंग परिग्रह चतुर्दश प्रकार का है और बाह्य परिग्रह दो प्रकार है । इनके नामों का आगे निरूपण करते हैं ।

१. मिथ्यात्व २. पुंवेद ३. स्त्रीवेद ४. नपुंसक वेद ५. हास्य ६. रति ७. अरति ८. शोक ९. भय १०. जुगुप्सा (ग्लानि) ११. क्रोध १२. मान १३. माया १४. लोभ ।

ये सब यद्यपि आत्मा के ही भाव हैं तो भी इन्हें परिग्रह संज्ञा इसलिये दी गई है कि ये आत्मा के स्वभाव न होकर विभाव (विकार या उपाधियाँ)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, जो पुद्गल कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं और जिनसे आत्मा अपने स्वरूप को भूल स्वयं क्रोधी मानी आदि रूप धारण करता हुआ मूर्छा को प्राप्त हो उन्हीं में रमा रहता है।

(११७)

बहिरंग परिग्रह

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्त्तते हिंसां ।।११७।।

सचित् अचित् के भेद रूप है बाह्य परिग्रह उभय प्रकार।
दासी दासादिक सचित्त हैं धन धान्यादि अचित्त विचार।
मूर्छा विन जन नहि करता है उक्त परिग्रह अंगीकार।
वाह्य परिग्रह भी हिंसा का अंग सिद्ध है यों साकार।

भावार्थः—बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है:—१. सचित्त २. अचित्त। इनमें सचित्त (सजीव) वस्तुओं गाय भैंसादि को सचित्त परिग्रह एवं क्षेत्र (जमीन) वास्तु (मकान) रुपया पैसादि अजीव वस्तुओं को अचित्त परिग्रह कहते हैं।

ये दोनों प्रकार के परिग्रह हिंसा से भिन्न नहीं है; क्योंकि अंतरंग परिग्रह तो राग द्वेष स्वरूप ही है और वाह्य परिग्रह राग द्वेष उत्पन्न होने में कारण है; क्योंकि बाह्य वस्तुओं का आश्रय लेकर ही रागादि उत्पन्न होते हैं।

(११८)

परिग्रह त्याग अहिंसा है परिग्रहण हिंसा

उभयपरिग्रहवर्ज्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ।।११८।।

उभय परिग्रह त्याग—अहिंसा, किंतु संग्रहण हिंसा मान—
जिन प्रवचन मर्मज्ञ जनों ने—परमागम में किया विधान।

भावार्थः—जिन वाणी के मर्मज्ञ आचार्यों ने दोनों प्रकार परिग्रह के त्याग को अहिंसा कहा है और दोनों परिग्रहों के धारण करने (ग्रहण करने) को हिंसा कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(११९)

परिग्रह के त्याग का उपदेश

हिंसापर्य्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु ।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ।।११९।।

मिथ्यात्वादिक भाव वस्तुतः हिंसा के ही हैं पर्याय–
अतः सर्वथा त्याज्य विहित है–सकल विभावों का समुदाय ।
वाह्य परिग्रह धन गृहादि सब मूर्छा कारक है मतिमान् ।
अतः त्याज्य हैं, जिनदर्शन गत यतः तत्व विनिवृत्ति प्रधान ।

भावार्थः—चूंकि मिथ्यात्व कषायादि भाव हिंसा के ही पर्याय (नामाँतर) है अतः वे तो हिंसा हैं ही । और वाह्य परिग्रहों में जो मूर्छा भाव है वह हिंसा है । कोई भी व्यक्ति विना ममत्व या राग भाव के वाह्य वस्तुओं का संग्रह नहीं करता । मात्र वाह्य वस्तुएँ बिना ममत्व भाव के परिग्रह नहीं कहलातीं । इसीलिए समवशरणादि महान विभूतियों के रहते हुए भी तीर्थंकर भगवान् उनमें ममत्व या रागादि न रहने के कारण परिग्रही नहीं कहलाते; किन्तु जो लोग लेश मात्र भी राग या ममत्व भाव से वाह्य वस्तुओं का संग्रह करते हैं; किन्तु अपने को अपरिग्रही मानते हैं तो वे निश्चय से आत्मवंचना ही कर रहे हैं । क्योंकि रागी की संचय करने की भावना और वीतरागी की मूर्छा विहीन निःसंग या निर्ग्रंथ पने की भावनाएँ परस्पर विरुद्ध हैं । अतः संग विना भी रागी परिग्रही और समवशरणादि सहित वीतरागी निःपरिग्रही है ।

(१२०-१२१)

प्रश्नोत्तर

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्छाविशेषेण ।।१२०।।

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्ज्जारे सैव जायते तीव्रा।।१२१।।

यों बिडाल वा मृगशावक में नहिं विशेषता होगी सिद्ध ?
यह भ्रम है तव, यतः उभय की मूर्छाएँ हैं विषम सुसिद्ध ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरित तृणांकुर चारी मृग में मूर्छा अतिशय मंद सुजान
मूषकादि भक्षक विडाल में जबकि वही हो तीव्र महान।

भावार्थः—यदि ममत्व परिणाम ही हिंसा है तो मूषकों (चूहों) के शत्रु (मूषकाहारी) बिलाव एवं तृणाहारी हरिण में कोई भेद न रह जायगा अर्थात् दोनों ही समान रूप में हिंसक कहलायेंगे। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि ऐसा मत कहो; क्योंकि बिलाव और हरिण की मूर्च्छा में विशेष अंतर विद्यमान है।

भावार्थः—हरित तृण (घास) को चरने वाले मृग शावक में मूर्छा बहुत ही कम हुआ करती है जबकि मूषकों के समूह को भक्षण करने वाले बिलाव में वह अत्यंत तीव्रता को प्राप्त रहती है।

तृण चरता हुआ मृग तनिक सी आहट पाकर भाग जाता है जबकि चूहे को पकड़े हुए बिलाव को—चाहे कितना ही भगाओ और मारो-वह उसे कदापि नहीं छोड़ता। यतः दोनों के राग और तृष्णा भावों में महान अंतर है अतः दोनों समान हिंसक या पापी नहीं कहला सकते।

(१२२-१२३)

उक्त कथन का तर्क पूर्ण समर्थन

निर्बाधंसंसिद्धयेत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

माधुर्य्यप्रीतिः किल दुग्धेमन्दैवमन्दमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्य्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

कारण का वैशिष्ट्य लिये ही हो सविशेष कार्य निष्पन्न।
अतः कार्य द्वारा निश्चित हो— कारण ज्ञान सहज सम्पन्न।

यथा शर्करा सहित रहित वा करते हुए दुग्ध का पान—
होता है माधुर्य प्रीति में अंश भेद संज्ञात महान।

भावार्थः—कारणों की विशेषता से कार्यों में विशेषता निर्बाध सिद्ध होती है जैसे दूध और खांड (शकर) में मधुरता की मंदता और तीव्रता होने से इनके सेवन करने वालों के भावों में मधुरता विषयक मंद और तीव्र राग संबंधी भेद पाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसे मंद माधुर्य में रुचि है वह गाय का कम मीठा दूध पीकर ही संतुष्ट हो जाता है; और जिसे तीव्र (अधिक) मिठास में रुचि है वह दूध में भी शकर मिलाकर पीता है या केवल शकर मिश्री आदि खाकर संतुष्ट होता है। उसी प्रकार परिग्रह–तृष्णा में भी राग भाव को तीव्रता और मंदता होने से हिंसा में विशेषता जान लेना चाहिए।

भावार्थः–कम मिठास वाले दूध में मधुरता प्रेमियों की रुचि कम और शकर में अधिक पायी जाती है।

सारांश यह कि जैसे मिठास की हीनाधिकता के कारण उसके प्रेमियों में अमुक वस्तु (दूध) के सेवन में रुचि कम और अधिक मीठी शकर में रुचि की अधिकता पायी जाती है। उसी प्रकार परिग्रह में हीनाधिक ममत्व या राग भाव के कारण हिंसा में भी तीव्र और मंद रूप में भेद हो जाता है। जैसे कि माँस का लोलुपी दुष्ट बिलाव मूषकादि प्राणियों का वध कर उन्हें खाने में विशेष रुचिवंत होता है और मंद कषायी मृग घास फूस खाकर ही अपनी क्षुधा शाँत कर लेता है। इस सब मे कारणों की विशेषता से कार्यों में विशेषता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है।

(१२४-१२५)

अंतरंग परिग्रह आत्म गुणों के घातक हैं

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥१२४॥

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्यसन्मुखायातः।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति॥१२५॥युग्मं॥

आत्म शत्रु मिथ्यात्व सहित हैं प्रथम कषायें चार प्रधान।
जो यथार्थ तत्वों की श्रद्धा–अपहारक हैं चौर समान।
एक देश चारित्र विनाशक है कषाय अप्रत्याख्यान्–
श्रावक पद के सम्मुख आता जो कि नष्ट कर–जन मतिमान्।

भावार्थः–अंतरंग परिग्रह में सर्व प्रथम मिथ्यात्व परिणाम है जिससे यथार्थ तत्वार्थ श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) नहीं हो पाता। इसके सिवाय अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ रूप चार कषायें भी हैं जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के चोर हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने पुरुषार्थ की सिद्धि का मूल साधन सम्यग्दर्शन है, जो मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी कषायों के द्वारा चुरा लिया जाता है। अतः सर्व प्रथम इन चोरों को दूर करना चाहिए।

फिर द्वितीय अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ रूप कषाय का त्याग कर देश चारित्र के सम्मुख आता है—उसे प्राप्त करता है। अतः अप्रत्याख्यान कषाय का परिहार करना चाहिए। कारण इस जाति की कषाय देश चारित्र के भावों को रोकती हैं।

देश चारित्र श्रावक के व्रत स्वरूप है जिसमें हिंसादि पापों का एक देश त्याग किया जाता है। अप्रत्याख्यान कषायों के उदय में श्रावक के अणुव्रतों के पालन करने के भाव नहीं होते।

(१२६)

अंतरंग परिग्रह का त्याग किस क्रम से करना चाहिए ?

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्द्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

श्रावकजन अणुव्रत धारणकर संयम साधे शक्त्यनुसार।
शेष कषाएँ भी परित्यागे—मार्दव शौच भावना द्वार।
ज्यों-ज्यों होता है अंतस् में कलुषित भावों का अवसान—
त्यों त्यों धर्म वृद्धि कर क्रमशः जन करता अपना कल्याण।

भावार्थः—फिर मार्दव शौचादि धर्म भावना से आत्मबल को प्रकट कर प्रत्याख्यानादि समस्त शेष कषायों का परिहार करना चाहिए तभी महाव्रतादि रूप मुनिधर्म का पालन हो सकता है एवं मानव निष्कषाय होकर पूर्ण वीतरागता स्वरूप निज धर्म में लीन होकर अपने पुरुषार्थ की सिद्धि करने में सफलता पा सकता है। अतः अपने वीतरागतामयी धर्म को आत्मसात करने की भावना में निरन्तर वृद्धि करते रहना आवश्यक है।

(१२७-१२८)

अंतरंग के साथ बहिरंग परिग्रह का त्याग भी विधेय है ?

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्ज्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपितनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥१२८॥

बाह्य परिग्रह द्वारा अनुचित-हो उत्पन्न असंयम भाव-
अतः सचित्ताचित्त रूप में त्याज्य कहा वह गह समभाव।
यदि परिपूर्ण वास्तु वित्तादिक तज न सके तदि शक्ति प्रमाण
परिसीमन भी बंधु! स्वपरहित कार्य विहित है सूत्र प्रमाण।

भावार्थ:—यतः धनधान्यादि बाह्य परिग्रह रखने और संग्रह करने से अनुचित रूप में असंयम की प्रवृत्ति होती है अतः सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के वाह्य परिग्रह का परिपूर्णतया त्याग करना चाहिए।

कुछ लोग वाह्य परिग्रह के रखने में कोई दोष नहीं मानते और यह मानकर संतुष्ट हैं कि भावों में कषाय या राग द्वेष न होना चाहिए, पर वस्तु तो तो पर होने से आत्मा का क्या विगाड़ कर सकती है? ऐसे लोगों को यह जान लेना चाहिए कि बाह्य परिग्रह का संग्रह बिना राग भाव के नहीं होता और इसके पास रहने से ममत्व एवं रागभाव की वृद्धि के साथ २ आचार्य श्री के कथनानुसार अनुचित रूप में असंयम रूप प्रवृत्ति भी होती है जो हिंसा का ही अंग है। अतः बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

भावार्थ:—जो व्यक्ति धन, धान्य, दासी, दास, गृह वित्तादि का पूर्णतया त्याग करने में असमर्थ हों उन्हें वस्तुओं के परिग्रह की मर्यादा कर अपनी योग्यता और आवश्यकतानुसार स्वल्प मात्रा में रख कर शेष समस्त वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि तत्व निवृत्ति रूप है-जितने अंशों में वस्तुओं के प्रति अनुराग कम होकर उनसे निवृत्त हुआ जायगा उतने ही अंशों में वीतरागता में प्रवृत्ति वढ़ेगी और अपने साध्य की सिद्धि में सफलता की संभावनाएँ वढ़ेंगी। अतः गृहस्थ को शनैः २ निष्परिग्रह होकर अहिंसा व्रत को परिपूर्ण करना चाहिए।

आगे रात्रि भोजन में हिंसा का सद्भाव दिखा कर उसका निषेध करते हैं।

(१२९)

रात्रि भोजन भी हिंसा का अंग

रात्रौभुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निशि भोजन में भी जीवों की हिंसा हो अवतरित नितांत।
रात्रि भुक्ति यों त्याज्य विहित हैं—धार्मिक जन हित में निभ्रान्त।

भावार्थ:—जो व्यक्ति रात्रि में भोजन करते हैं उनके हिंसा अनिवार्य रूप में होती है। अतः हिंसा से विरक्त जनों को रात्रि भोजन का त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

(१३०)

रात्रि भोजन में हिंसा किस प्रकार संभव है ?

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥१३०॥

तीव्रराग उदयाश्रित ही नहिं रात्रि भुक्ति का हो परिहार।
रात्रि भुक्ति अतएव सुनिश्चित—हिंसा ही है एक प्रकार।
रुचिपूर्वक भोजन करते हैं रात्रि-दिवस जो रागाधीन—
वे कैसे हिंसक नहिं होंगे; जबकि राग है पाप मलीन।

भावार्थ:—रागादि भावों के सद्भाव की अधिकता के कारण रात्रि भोजन का त्याग नहीं होता (और रागादि भावों का होना ही हिंसा है) अतः रात दिन खाने पीने में लगे रहने वालों को राग जन्य हिंसा कैसे नहीं होगी ? अवश्य होगी।

(१३१)

एक आशंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥

राग भाव ही हिंसा है, तदि रात्रि भुक्ति कर अंगीकार—
श्रेयस्कर होगा दिन में ही भोजन का करना परिहार।
इससे सतत न हिंसा होगी—दिवस भुक्ति का राग निवार—
दिन संबंधी हिंसा से जन निश्चित पाये मुक्ति, उदार।

भावार्थ:—"यदि रात दिन भोजन पान में लगे रहने से हिंसा होती है तो दिन में भोजन का त्याग कर रात्रि में भोजन करना ही ठीक रहेगा। ऐसा करने से सतत (रात-दिन) हिंसा नहीं होगी।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१३२)

समाधान

नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिकोरजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्यभुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

बंधु ! न तव यह मत प्रशस्त है—होने से त्रुटि पूर्ण नितांत।
यतः दिवस भोजन सहजहि हो क्षुधा व्याधि करने उपशांत।
रात्रि भुक्ति में राग भाव का रहता है बाहुल्य प्रवीण !
अन्न ग्रास तज माँस असन में--ज्यों हिंसा बहु रागाधीन।

भावार्थः—आपका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दिन में सहज प्राप्त भोजन का परित्याग कर रात्रि में भोजन करने वालों को रात्रि भोजन में अधिक अनुराग पाया जाता है। अन्यथा दिन के प्रकाश में देख शोधकर भली भाँति सुलभता को प्राप्त शुद्ध भोजन न कर रात्रि में भोजन करने में कौनसी विशेषता दिखाई देती है ?

जैसे शुद्ध निर्दोष अन्नाहार का परित्याग कर जीव हिंसा से उत्पन्न सदोष माँसाहार करने वाले व्यक्ति में उसके प्रति तीव्र राग पाये जाने से सविशेष हिंसा का भागी होना पड़ता है और इसीलिए माँसाहार वर्जित है उसी प्रकार असंख्यात जीवों की सूक्ष्म और स्थूल हिंसा का कारण होने से रात्रि भोजन भी वर्जित है।

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो रात्रि भोजन को दिवा भोजन की समानता पर किसी भी दृष्टि से नहीं तोला जा सकता।

(१३३)

रात्रि भोजन में हिंसा का कारण

अर्कालोकेनविना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपिबोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

सूर्य प्रकाश विना ही जो जन—रजनी में करते आहार।
सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा से वे क्यों कर पायें उद्धार ?
दीप जला लें—तब भी मरते लौ अनुरागी जीव निकाय—
भोजन में भी कवलित होंगे रक्षा का नहिं बंधु ! उपाय।

भावार्थः—सूर्य प्रकाश के अभाव में रात्रि भोजन करने वाला व्यक्ति जीव हिंसा का परिहार कैसे करेगा (जब कि सूर्य प्रकाश के अभाव में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंख्य सूक्ष्म और स्थूल जीव भी संध्या होते ही गृह द्वारों और गृहों में मंडराते स्पष्ट देखे जाते हैं और जिनके भोजन पान करते समय उदरस्थ होने कीसंभावना को निरस्त नहीं किया जा सकता। (यदि कहो कि हम दीपक या बिजली आदि जलाकर उसके प्रकाश में भोजन करेंगे, तो यह कथन भी भोजन में निर्दोषता सिद्ध करने के लिये युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि रात्रि में उत्पन्न सूक्ष्म जीवों की हिंसा को—जो दृष्टि गोचर न होकर भोजन के साथ उदरस्थ होंगे—कैसे रोका जा सकेगा? इसके सिवाय उड़ने वाले स्थूल जीव दीपक या बिजली की ओर आकर्षित होते स्पष्ट दीखते हैं—सूर्य की ओर नहीं। उनके भोजन में पड़ जाने एवं भोजन पकते हुए छिपकली आदि बड़े २ जानवरों के बर्तन में गिर जाने की घटनाएँ कई बार प्रत्यक्ष देखने सुनने में आती रहती है, जिनसें व्यक्तियों और कुटुम्बों तक की सामूहिक मृत्यु भी हो जाती है।

(१३४)

रात्रि भोजन त्याग से लाभ

किंवा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरतिरात्रिभुक्ति सततमहिंसां स पालयति ।।१३४।।

अधिक और क्या कहें यहाँ—यह सिद्ध हुआ सब भाँति नितांत—
जो मन वच तन द्वार विरत हो—रात्रि भुक्ति से जनसंभ्रांत।
वह बहु हिंसा विरति सुव्रत का परिपालक बन रहे, निदान—
करें भव्यजन अतः सुरुचियुत रात्रि भुक्ति का प्रत्याख्यान।

भावार्थः—वहुत कहने से क्या, यह भली भाँति सिद्ध है कि जो व्यक्ति रात्रि भोजन का मन वचन काय से परित्याग करते हैं वे निरंतर अहिंसा व्रत का पालन करते हैं।

इसके सिवाय स्वास्थ्य की दृष्टि से भी रात्रि भोजन हानिकारक है; क्योंकि सूर्य प्रकाश में किया गया भोजन सुपाच्य होता है जबकि रात्रि भोजन कठिनता से पचता और अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिये भी रात्रि भोजन का त्याग करना उचित है।

(१३५)

उपसंहार

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ।।१३५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं मुक्ति मार्ग है सम्यक् दर्शन ज्ञान और चारित्र–
निज हित में अनुसरण करें जो–वे पायें निर्वाण पवित्र।
रत्नत्रय संसाधन हित तुम–करो अतः पुरुषार्थ महान।
हो जाये जिससे संसृति के दुःखसमूह का पर्यवसान।

भावार्थः–इस प्रकार अपने हित की कामना करता हुआ जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग का सेवन करने में सतत प्रयत्नशील रहते हैं वे शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

(१३६)

शील व्रतों की उपयोगिता

परिधयइवनगराणि व्रतानि किलपालयन्तिशीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ।।१३६।।

प्राचीरें संरक्षण करतीं ज्यों नगरी का सतत प्रवीण !
व्रत समूह का सप्तशील त्यों रक्षण करते सर्वाङ्गीण।
व्रत संरक्षण सहसंबर्द्धन– का जिनेन्द्र ने कारण जान–
भव्य जीव हित जिन शासन में सप्तशील का किया विधान।

भावार्थः–जिस प्रकार नगरों की रक्षा कोट या किले किया करते हैं उसी प्रकार अहिंसादि व्रतों की रक्षा शीलव्रत करते हैं। अतः व्रतों की भली भाँति रक्षा करने के लिये शील व्रतों का पालन अवश्य करना चाहिए। शील व्रत सात है– ३ गुण व्रत ४ शिक्षा व्रत।

(१) दिग्व्रत (२) देश व्रत (३) अनर्थ दण्ड व्रत ये तीन गुणव्रत हैं–

(१) सामायिक (२) प्रोषधोपवास (३) भोगोपभोग परिमाण (४) अतिथि संविभाग या वैयावृत्य ये चार शिक्षा व्रत हैं।

प्राचीन काल में नगर या राजधानियों की रक्षा हेतु राजागण शत्रुओं या आक्रमणकारियों से अपनी और अपनी प्रजा की रक्षा हेतु नगर के चारों ओर परकोटे या किले बनाते थे ताकि शत्रुओं को आक्रमण करना सहज न हो–उसी प्रकार उक्त सप्तशील व्रत रूप कोट का निर्माण अपने व्रत रूप नगर की रक्षा के लिये आवश्यक है ताकि कषाएँ व पाप भाव आक्रमण कर व्रतों को क्षति न पहुँचा सकें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१३७)

प्रथम शील दिग्व्रत का स्वरूप

प्रविधाय सुप्रसिद्धै मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्योदिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ।।१३७।।

पूर्वादिक संस्थित सागर गिरि वनादि जो हों विख्यात—
आजीवन उनकी सीमाएँ—निर्धारित कर मन में भ्रात !
उससे बहिर्गमन नहि करने का करना संकल्प महान।
व्रत संबर्द्धन हित यह दिग्व्रत है परिपालनीय, मतिमान्।

भावार्थः—पूर्व-पश्चिमादि सम्पूर्ण दिशाओं में सुप्रसिद्ध एवं सर्वविदित नगर, पर्वत, वन, नदी, समुद्रादि क्षेत्र पर्यन्त जीवन भर के लिए आने-जाने की सीमा को निश्चित कर के उससे वाहर न जाने की प्रतिज्ञा करना चाहिए। यही दिग्व्रत कहलाता है।

(१३८)

दिग्व्रत से लाभ

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततोबहिस्तस्याः।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ।।१३८।।

विधिवत् जो श्रावक दिग्व्रत का—परिपालन करता अम्लान—
उससे सीमा बाह्य स्वतः हो—पूर्ण पाप का प्रत्याख्यान।
राग द्वेष वा विषय कषायों से निवृत्ति हो इसके द्वार।
धर्म अहिंसा संबर्द्धित वा संरक्षित हो सहज उदार।

भावार्थः—जो व्रती पुरुष सभी दिशाओं में की हुई मर्यादा के अन्दर रह कर अपनी प्रवृत्ति करता हुआ जीवन भर सीमा का उल्लंघन नहीं करता उसके सीमा के बाहिर परिपूर्ण असंयम का विरह (त्याग) हो जाने से अहिंसा व्रत पूर्णता को प्राप्त होता है।

यतः सीमा के बाहर सम्पूर्ण वस्तुओं प्रति रागद्वेष के त्याग से हो जाने से पापों की परिपूर्ण निवृत्ति हो जाती है अतः सीमा के बाहर उसका अहिंसा व्रत भी पूर्णतया परिपालित हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१३९)

देश व्रत का स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधायनियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ।।१३९।।

दिग्व्रत में जो विस्तृत सीमा–निश्चित की जीवन पर्यन्त–
वह कृश करना पाप भीरुवन प्रतिदिन नियत काल पर्यन्त–
उससे बहिर्गमन नहिं करने हेतु देश व्रत लें अम्लान।
जैसे–मैं इस दिवस नगर से–वाह्य करूँगा नहिं प्रस्थान।

भावार्थः–दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त निश्चित की गई बृहत्सीमा को भी कम करके नियत काल (घड़ी; पहर; दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष) पर्यन्त ग्राम बाजार; मकान, मोहल्ले आदि की पुनः सीमा बाँध कर उस से बाहर न जाने की मर्यादा करना चाहिए। यह मर्यादा ही देशव्रत कहलाती है।

(१४०)

देश व्रत से लाभ

इति विरतोबहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ।।१४०।।

इस व्रत द्वारा बहु पापों का हो जाता प्रिय प्रत्याख्यान।
धर्म अहिंसा संवर्द्धन हित– यह भी है स्वीकार्य, निदान।

भावार्थः–इस प्रकार जो दिग्व्रत के विस्तृत क्षेत्र के बहुभाग को अल्पकाल के लिए भी संकुचित कर शेष बहुभाग से विरक्त होता है उसके बहुभाग सम्बन्धी हिंसादि का परिहार हो जाने से वह विमलमति व्रती श्रावक तत्काल अहिंसा व्रत का संबर्द्धक बन जाता है। क्योंकि सीमा के बाहिर गमनागमन का परित्याग कर देने से उन स्थानों सम्बन्धी पाप भी स्वयं छूट जाते हैं।

तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्ड व्रत है। अनर्थदण्ड ५ प्रकार के होते हैं: १. अपध्यान, २. पापोपदेश, ३. प्रमादचर्या, ४. हिंसादान; और ५. दुःश्रुति। इन पाँचों प्रकार के निष्प्रयोजन पापों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। अब इन पाँचों अनर्थदण्डों के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१४१/१)

अनर्थ दण्ड व्रत

उक्त देशव्रत की सीमा में रह कर भी जिन कार्यों द्वार—
निष्कारण ही पाप बंध हो उनका भी करना परिहार—
है अनर्थ दण्ड व्रत पावन आतम हित कर्त्तव्य प्रधान—
जिसके परिपालन से बहुशः रागद्वेष का हो अवसान।

(१४१/२)

अनर्थ दण्ड के भेद व अपध्यानत्याग

पापर्द्धिजयपराजय सङ्गरपरदारगमन चौर्याद्याः।
न कदाचनापिचिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

यदपि अनर्थदण्ड हों अगणित—उन सबका कर उपसंहार—
पंचभेद में किये समाहित, अपध्यान है प्रथम प्रकार।
हारजीत, आखेट, चौर्य, रण, पर त्रिय चिंतनादि दुर्ध्यान—
द्वारा व्यर्थ मलिन मन करना—है संत्याज्य दुरित अपध्यान।

भावार्थः—पापर्द्धि (शिकार) जीत, हार, युद्ध, परस्त्री सेवन, चोरी लूटमार आदि दुष्कर्मों का रागद्वेष के वशीभूत हो कर अपने मन में दूसरों के प्रति या स्वयं के प्रति भी चिन्तवन न करना चाहिये—यह अपध्यान त्याग नामक अनर्थदण्ड व्रत कहलाता है।

मन में दुर्विचारों का आना ही अपध्यान कहलाता है। इसे मानसिक हिंसा भी कहते हैं। ऐसा करने से किसी का भला-बुरा तो होता नहीं; किन्तु व्यर्थ ही पाप का बन्ध अवश्य होता रहता है। इस कारण अपध्यान से सतत बचने का प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि मन में कुछ-न-कुछ विचार निरन्तर आते ही रहते हैं अतः कुविचारों को मन में न आने देना ही अपना पुरुषार्थ कहलाता है।

(१४२)

पापोपदेश त्याग

विद्यावाणिज्यमषी कृषि सेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२॥

वणिज-मषी-कृषि-सेवा-विद्या—शिल्पजीवि-उपकार विचार-
पाप बहुल उपदेश दान भी है पापोपदेश अघ द्वार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभ स्वयं को है न तनिक भी देने से उपदेश मलीन।
व्यर्थ पाप का बंधन होता अतः त्याज्य है सर्वांङ्गीण।

भावार्थः–विद्या, व्यापार, लेखन-क्रिया, खेती, नौकरी (सेवा) तथा हस्तकला से आजीविका करने वालों को पापयुक्त व्यापार करने का उपदेश कभी न देना चाहिए। यही पापोपदेश त्याग नामा अनर्थदण्ड व्रत कहलाता है।

दूसरों को पाप कार्यों के करने का उपदेश देना, व्यर्थ ही पापी बनना है; क्योंकि उपदेश सुनकर लोग पाप कार्यों में प्रवृत्त होंगे और इससे उपदेशदाता का कोई प्रयोजन सधेगा नहीं। अतः ऐसे उपदेश देने का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ऐसी आजीविका जो हिंसा पूर्ण हो, अति आरम्भकारक हो, सामान्य जनता का शोषण करती हो। स्वयं भी न करना चाहिए और न दूसरों को ही ऐसा मार्गदर्शन देना चाहिए।

(१४३)

प्रमाद चर्या त्याग अनर्थ दण्ड व्रत

भूखननवृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ।।१४३।।

दूब-दलन, भूखनन, वृक्ष उत्पाटन या जलप्लावन रूप।
हरित काय-तरु पत्र, पुष्प, फल–दलन अकारण पापस्वरूप।
कर्मबंध कारक होने से स्वेच्छा से करना परिहार–
व्रत प्रमादचर्या–परिहारक सूत्र विहित है परम उदार।

भावार्थः–विना प्रयोजन भूमि खोदना, वृक्ष उखाड़ना, हरी दूब (घास) को रौंदना, पानी बिखेरना, वृक्षों के फल-फूल तोड़ना, अग्नि जलाना वुझाना अर्थात् स्थावर जीवों को सताना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहलाता है, इससे व्यर्थ में पाप का बन्ध होता है, अतः इसका भी परित्याग करना चाहिए।

प्रायः लोग अनावश्यक ही वृक्षों के फल फूल पत्रादि को तोड़ते, जल विखेरते, पानी में पत्थरादि फेंक कर मनोरंजनादि करते देखे जाते हैं। जिससे अपना कुछ भी काम नहीं सधता, अतः इन अनर्थों से बचना भी मानव का परम कर्त्तव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहस्थों से आवश्यक आरंभ नहीं छूट पाता है; किन्तु उसे निष्प्रयोजन उपरोक्त कार्यों का त्याग कर व्यर्थ के पापोंसे अवश्य बचना चाहिए।

(१४४)

हिंसादान त्याग अनर्थ दण्ड व्रत

असिधेनुविषहुताशन लाङ्गल करवाल कार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

अस्त्र, शस्त्र, शृंखला, अग्नि, विष-छुरी, कटारी, तीर-कमान
हिंसा की साधन सामग्री अन्य जनों को देना दान—
यह भी पाप अनर्थक ही है—हिंसादान नाम साकार।
इसका त्याग अहिंसा व्रत का संवर्द्धन है एक प्रकार।

भावार्थः—छुरी (कटारी), विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुषादि हिंसा के साधन उपकरणों का दान देना हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है। इस का भी धर्मात्मा पुरूषों को त्याग करना चाहिए; क्योंकि इसमें दूसरे लोग हिंसा कार्य कर पाप का वन्ध तो करेंगे ही, किन्तु हिंसादान करने से दानी व्यक्ति को भी व्यर्थ ही पाप का भागी वनना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति अपने बैर भाव के कारण किसी व्यक्ति की हिंसा करने में तत्पर होकर आपसे उस हिंसा के साधनों की याचना करें और आप यह सोचकर कि 'यह हिंसा करेगा तो स्वयं पापी होगा। मैं तो हिंसा नहीं करता अतः मेरा व्रत सुरक्षित है' उसे हिंसा के साधन दे दें तो आप भी उस हिंसा में अनायास ही सहायक वन जाते हैं। जिससे आपको पाप वन्ध तो होगा ही साथ ही राजकीय दंड भी भुगतना पड़ जायेंगे। इससे हिंसादान त्याज्य ही है।

(१४५)

दुःश्रुति-त्याग अनर्थ दण्ड व्रत

रागादिबर्द्धनानां दुष्टकथानामबोध बहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

रागद्वेष मद मदन प्रसारक, मन मलीन कारक, गुणहीन,
वार्ता या शास्त्रादि श्रवण कर अपने करना भाव मलीन।
दुःश्रुति नामा यह अनर्थ है राग द्वेष संबर्द्धक जान—
इसका त्याग किये नहिं होतीं जन की चित्त वृत्तियाँ म्लान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—रागद्वेष बढ़ाने वाली, दुष्टता और अज्ञान से परिपूर्ण कथाओं, वार्ताओं का श्रवण, संचयन, शिक्षण आदि करना दुःश्रुतिनामा अनर्थदण्ड है जिसका त्याग करना दुःश्रुतित्याग नामक अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।

चूंकि रागद्वषादि दुष्टतापूर्ण कथा-कहानियों या विषय-कषाय पोषक शास्त्रों (नावेल) उपन्यासादि रचनाओं के पठन श्रवण आदि से व्यर्थ ही मन में कुविचारों का जन्म होता है—जो मानसिक पाप है। अतः इनके श्रवण पठनादि का त्याग भी होना ही चाहिए।

आधुनिक युग में रेडियो द्वारा अश्लील गान एवं प्रकाशकों द्वारा अश्लील साहित्य का सृजन और पठन पाठन तीव्र गति से बढ़ रहा है एवं मनुष्य के चरित्र हनन करने वाले अश्लीलता तथा मारधाड़, लूटपाट से भरे सिनेमा के चलचित्रों व दूरदर्शन का प्रचलन भी बढ़ता ही जा रहा है, जिसके दुःपरिणाम व्यक्ति और समाज को ही नहीं सारे देशों को भोगना पड़ रहे हैं, अतः इन सब से बचना और दूसरों को भी बचाना भी दुःश्रुति त्याग नामक अनर्थदण्ड व्रत के ही अन्तर्गत जान लेना चाहिए।

(१४६)

द्यूत क्रीड़ा (जुआ) भी महा अनर्थ है

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्ममायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्य्यासत्यास्पदं द्यूतम् ।।१४६।।

इन सबके अतिरिक्त अनर्थों में है जिसका उच्च स्थान—
मानस की शुचिता संहारक—माया का प्रासाद महान—
चौर्यासत्य जहाँ बसते हैं—वह है द्यूत व्यसन दुखकार,
दूर हि से अतएव व्यसन यह त्याज्य विहित है सर्व प्रकार।

भावार्थः—अनर्थदण्ड व्रत धारण करने वालों को सम्पूर्ण अनर्थों में श्रेष्ठ, मानस की शुद्धि को नष्ट करने वाला; माया का निवास स्थान (छल-कपट का घर) तथा चोरी और असत्य के भण्डार द्यूतकर्म (जुआ) का त्याग भी अवश्य करना चाहिए।

जुआ सब अनर्थों की जड़ और दुर्व्यसनों का नेता है। क्योंकि जुआ खेलने वालों को शराबी, मांसाहारी, व्यभिचारी, चोर, बेईमान, झूठा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और धोखेबाज बनने की प्रेरणा कुसंगति के कारण स्वयं मिलने लगती है जिससे न केवल उसका-प्रत्युत् उसके आश्रितों का जीवन भी बर्बाद हो जाता है, अतः इस अनर्थकारक व्यसन का अवश्य त्याग करना चाहिए।

(१४७)

अन्यान्य अनर्थों के त्याग की प्रेरणा

एवं विधिमपरमपि ज्ञात्वामुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

तदतिरिक्त अन्यान्य अनर्थों की भी कर सम्यक् पहिचान—
करता है जो त्याग सर्वथा दृढ़तापूर्वक निष्ठावान्।—
उसका धर्म अहिंसा विजयी—बन हिंसा पर सर्वाङ्गीण—
करता है सहकार परम—पुरुषार्थ सिद्धि में प्रवर प्रवीण !

भावार्थः—इस प्रकार उल्लिखित अनर्थों के सिवाय अन्यान्य और भी अनर्थों को जो पाप के कारण हैं, भलीभाँति जानकर जो पुरुष त्याग करता है उसका अहिंसा व्रत सतत वृद्धिगत होता हुआ विजय को प्राप्त होता है अर्थात् निर्बाध रूप से समुन्नत होकर कल्याण करने में समर्थ होता है।

इस कारिका द्वारा आचार्यश्री ने उक्त अनर्थदण्डों के सिवाय उन अन्य कार्यों से वचने की भी प्रेरणा की है जिनसे मनुष्य का कुछ अनिवार्य प्रयोजन तो सधता नहीं; किन्तु पाप का बन्ध व्यर्थ में होता है।

अनर्थदण्डों से विरक्त न होने पर व्यर्थ के पापों में अनायास सहज ही प्रवृत्ति होने लगती है, जिससे लिए हुए व्रत भी भंग हो जाते हैं। अतः इन सबका त्याग करना ही आत्महित में आवश्यक है।

(१४८)

सामायिक शिक्षा व्रत

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

इष्टानिष्ट मान्य विषयों में राग द्वेष का कर परिहार—
पंचपाप तज मन वच तन सह कृत कारित अनुमोदन द्वार—
साम्यभाव अवलंबन कर वर करना स्वानुभूति रसपान—
सामायिक है सुस्थिर मन कर श्रावक का कर्त्तव्य प्रधान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः–समस्त वस्तुओं में रागद्वेष का परित्याग कर साम्यभाव पूर्वक तत्त्व की संप्राप्ति का मूल (जिसमें आत्म स्वरूप की उपलब्धि होती है) ऐसा सामायिक व्रत वहुत ही सावधानीपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

पंच पापों, विषय कषायों एवं रागद्वेष को कुछ काल के नियम से त्याग कर समताभावपूर्वक आत्मस्वरूप या तत्त्व का चिन्तन करते हुए आत्म स्वरूप में लीन होना सामायिक शिक्षाव्रत कहलाता है। इस तथा अन्य शिक्षाव्रतों से मुनि धर्म धारण करने की शिक्षा मिलती है। अतः इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा जाता है।

(१४९)

सामायिक सम्पन्न करने का समय

रजनीदिनयोरन्त्ये तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ।।१४९।।

अंधकार परिपूर्ण निशा का हो प्रातः जब पर्यवसान–
एवं साँझ समय करता है–सूर्य प्रतीची में प्रस्थान–
यों द्वय सांध्य समय सामायिक है करणीय सुविधि अनुसार–
इतर समय भी दोष नहीं है–गुण समृद्धि साधन स्वीकार।

भावार्थः–सामायिक प्रतिदिन रात्रि के अन्त में (प्रातःकाल) एवं दिवस के अन्त में (सायंकाल) चित्त की एकाग्रतापूर्वक अवश्य ही की जानी चाहिए। यदि वह इतर समय भी की जावे तो दोष नहीं है; प्रत्युत् आत्मीय गुणों के विकास में वह वृद्धि ही करने वाली है।

(१५०)

सामायिक का माहात्म्य

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ।।१५०।।

सामायिक में पूर्णतया हो–पाप निवृत्ति गृही के द्वार।
अतः महाव्रत सम परिणमते–उसके अणुव्रत एक प्रकार।
यद्यपि चरित मोह का रहता मंदोदय तत्काल, प्रवीण !
परिणामों में तदपि शुद्धि अति संपादित हो वंधु ! नवीन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—जो सज्जन सामायिक व्रत का आश्रय लेकर उसका भलीभाँति निर्वाह करते हैं उनके व्रत पूर्णतया सावद्य योग (मन-वचन-काय की पाप मयी प्रवृत्ति) के अभाव हो जाने से चारित्र मोह का उदय रहने पर भी महाव्रत की परणति को प्राप्त हो जाते हैं।

यतः महाव्रती पंच पापों का सव प्रकार से सदा के लिए त्याग करते हैं— किन्तु सामायिक करने वाला गृहस्थ सामायिक के काल में ही सब प्रकार से पापों का त्याग करता है अतः उतनी देर के लिए वह भी मुनि के समान महाव्रती वन जाता है। सामायिक करने का उत्कृष्ट काल ६ घड़ी मध्यम ४ घड़ी एवं जघन्य २ घड़ी का है। २४ मिनट का समय एक घड़ी कहा गया है।

(१५१)

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ।।१५१।।

व्रत पूर्वक सामायिक करना सुरुचि किया जिसने स्वीकार—
तत्संस्कार सुदृढ़ करने वा गुण संबर्द्धन हेतु विचार—
निरारंभ हो, प्रोषध सँग—उपवास ग्रहण करना प्रतिमास—
अष्टमि चतुर्दशी पर्वों में—है यह व्रत प्रोषध उपवास।

भावार्थः—प्रतिदिन अंगीकार किये गये सामायिक व्रत को और भी दृढ़ करने के लिए पक्ष के अर्द्धभाग में (प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन) उपवास भी अवश्य करना चाहिए।

पर पदार्थों के प्रति संकल्प विकल्पों व पापों का पूर्णतया परित्याग कर आत्मा के समीप होने (आत्म चिन्तन या आत्मा स्वरूप में लीन होने) को उपवास कहा जाता है। भोजन पानादि समस्त प्रकार के आहार एवं पंचेन्द्रिय के विषयों के साथ कषायों का भी त्याग कर उपवास करना चाहिए। दिन में एक वार भोजन कर उपवास की विधि और नियमों का पालन करने को प्रोषध कहते हैं। दो प्रोषधों के बीच एक उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१५२)

प्रोषधोपवास की विधि

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे ।
उपवासं ग्रहणीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ।।१५२।।

व्रत से इक दिन पूर्व व्रती जन एकासन कर निष्ठावान्
तन धनादि प्रति साम्य भाव गह निरारंभ होवे मतिमान् ।
विषय कषायारंभ तजे विन केवल त्याग करै आहार,
आगमोक्त वह लंघन सम है अतः करहु उनका परिहार ।

भावार्थः—उपवास दिवस के एक दिन पूर्व मध्यान्हकाल (१२ बजे दिन को) समस्त आरम्भों से मुक्त होकर एवं देहादिक समस्त वस्तुओं से ममत्व का परित्याग कर उपवास धारण करने की प्रतिज्ञा करना चाहिए। जब तक गृह कार्यों एवं विषय कषायों में चित्त उलझा रहेगा तब तक एकाग्रतापूर्वक धर्म-ध्यान सम्भव नहीं है अतः इन सबका परित्याग करना (उपवास के दिन) अनिवार्य है। विषय कषायों के त्याग विना आहार मात्र न करना बंधन है।

(१५३)

प्रोषध-कर्त्तव्य

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ।।१५३।।

प्रोषध दिन एकाँतवास कर योग सकल सावद्य निवार—
विषय कषाय विरत चित होकर—सर्वेन्द्रिय संयम स्वीकार—
मन वच काय गुप्ति धारण कर तज संकल्प विकल्प सुजान ।
स्वात्म स्वरूप सुचिंतन पूर्वक रुचि से करै श्रुतामृत पान ।

भावार्थः—एकान्त स्थान में जाकर समस्त सावद्य योगों का परित्याग कर मन-वचन-काय की गुप्तिपूर्वक (तीनों योगों को वश कर) पंचेन्द्रिय विषयों का भी परित्याग कर धर्म ध्यान करना चाहिए। मन-वचन-काय से पंच पाप रूप प्रवृत्ति करने को सावद्य योग कहते हैं।

(१५४)

पुनश्च

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ।।१५४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मध्यान अनुरक्त हुआ वह दिवस व्यतीत करे मतिमान् ।
यथा समय सामायिक साधै समता भाव गहे अम्लान ।
श्रुत चिंतन रत रह कर निद्रा—जीत विताये निशि त्रययाम ।
पश्चिम रात्रि प्रहर संस्तर पर नाम मात्र ही ले विश्राम ।

भावार्थः—धर्म-ध्यान में तत्पर रहकर दिन व्यतीत करते हुए सन्ध्या समय सामायिक करें और फिर धर्म-ध्यान में ही लीन रह कर पवित्र साँथरे (बिस्तर) पर रात्रि व्यतीत करें एवं निद्रा के वश न हो।

(१५५)

पुनश्च

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

पुनि प्रभात उठ नित्य नियम से हो निवृत्त व्रतनिष्ठ पुमान् ।
प्रासुक द्रव्य द्वार जिन अर्चा कर कृतार्थ हो सुविधि प्रमाण ।
सामायिक संस्तवन वंदना—ग्रंथ पठन इत्यादि प्रशस्त—
धार्मिक चर्या में रत रह कर दिवस बिताये गृही समस्त ।

भावार्थः—पुनः प्रातःकाल उठ कर सामायिकादि तात्कालिक नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर प्राशुक द्रव्यों से विधिपूर्वक भक्ति भाव से जिन पूजन संपन्न करें।

(१५६)

पुनश्च

उक्तेन ततोविधिना नीत्वादिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धम् च तृतीयदिवस्य ॥१५६॥

साँझ समय सामायिक कर वर सुरुचि करै जन समरसपान ।
रजनी में भी जाग्रत रहकर चिंतन करै तत्व संज्ञान ।
प्रातः पूर्व उल्लिखित विधिवत् धर्माराधन कर द्वय-याम—
पारण कर परिपूर्ण करै व्रत, प्रोषध विधि यह है अभिराम ।

भावार्थः—तत्पश्चात् पूर्वोक्त विधि से (स्वाध्यायादि) धर्म क्रियाओं को करता हुआ दिन व्यतीत करें और रात्रि भी पूर्व कथित विधि अनुसार धर्म-ध्यान में बिता कर प्रातः कालीन धर्म-क्रियाएँ सम्पन्न करता हुआ अर्द्ध-दिवस व्यतीत करें। पश्चात् पारना करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5318

(१५७)

प्रोषधोपवास से लाभ

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्त सकलसावद्यः।
तस्यतदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

यों समस्त सावद्य योग का षोडस प्रहर किये परिहार–
भव्य जनों के सहज हि होता पूर्ण अहिंसा व्रत साकार।

भावार्थः—इस प्रकार जो साधक समस्त पाप क्रियाओं का परित्याग करता हुआ षोडस पहर धर्म-ध्यान में व्यतीत करता है उसको उस समय (उपवास के दिन) परिपूर्ण अहिंसा व्रत की सिद्धि हो जाती है।

(१५८)

अणुव्रती को उपवास से महाव्रत सिद्धि

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥

पंच अणुव्रत पालन करता सद्गृहस्थ जो नित अम्लान
इन्द्रिय भोग जन्य ही होती स्थावर हिंसा उससे म्लान;
किंतु गृही उपवास दिवस कर सब भोगों का प्रत्याख्यान–
रंचमात्र नहिं हिंसा करता महाव्रती मुनिराज समान।

भावार्थः—श्रावकों से पंचेन्द्रियों के भोगोपभोग के कारण ही त्रस और स्थावर जीवों की आरम्भी हिंसा हुआ करती है; किन्तु प्रोषधोपवास के दिन सम्पूर्ण भोगोपभोग का त्याग कर देने से सब प्रकार के आरम्भ का त्याग हो जाता है अतः हिंसा का लेश भी नहीं होता।

(१५९)

पुनश्च

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।
नाब्रह्मैथुनमुचः संगोनाङ्गेप्यमूर्छस्य ॥१५९॥ (युग्मम्)

वचन गुप्ति कर अनृत वचन का हो जाता है प्रत्याख्यान।
चौर्य दुरित भी हो न तनिक भी जब नहिं लिया अदत्तादान।
मैथुन का परित्याग किये नहिं—हो अब्रह्म तद् दिवस, निदान।
तन से भी ममता त्यागी तब कहाँ रहा वह मूर्छावान् ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ:—इसी प्रकार उस दिन वचन गुप्ति का पालन करने से झूठ का, अदत्तादान ग्रहण न करने से स्तेय (चोरी) का, मैथुन का त्याग करने से अब्रह्म का और शरीर तक से ममत्व का त्याग कर देने से परिग्रह का पाप भी नहीं होता। अतः हिंसा के साथ ही अन्य पापों का भी त्याग सहज में हो जाता है।

(१६०)

प्रोषधव्रती उपचार से ही महाव्रती है

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥

यों गृहस्थ उपवास दिवस कर हिंसा का परिहार नितांत।
महाव्रती मुनि सम व्यवहृत हो नय उपचार द्वार संभ्रांत।
यतः उदय में विद्यमान है—चरित मोहगत प्रत्याख्यान—
अतः वस्तुतः प्राप्त न होता नियमित पूर्ण संयमस्थान।

भावार्थ:—इस प्रकार हिंसा का परिपूर्णतया त्याग हो जाने से उपवास के दिन वह श्रावक महाव्रतीपने को उपचार से प्राप्त हो जाता है; किन्तु प्रत्याख्यान कषाय रूप चारित्र मोह के उदय से उसको पूर्ण संयम स्थान (छठे गुणस्थान) की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् वह साक्षात् मुनिपद को प्राप्त नहीं होता।

मुनिपद के लिए प्रत्याख्यान क्रोधमानादि-कषायों का अभाव होना अनिवार्य है। उसके अभाव से वह जीवन भर के लिए पंच पापों का पूर्णतया त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा लेकर मुनिपद ग्रहण करने में समर्थ होता है।

(१६१)

भोगोपभोग परिमाण करने की प्रेरणा

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतोहिंसा।
अधिगम्यवस्तुतत्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

हिंसा जो भी समुत्पन्न हो—विरताविरत गृही के द्वार—
हो भोगोपभोग द्वारा वह, संभव नहिं है अन्य प्रकार।
अतः अहिंसा संबर्द्धन हित वस्तु तत्व का कर परिज्ञान।
प्रिय भोगोपभोग भी त्यागें सद् गृहस्थ निज शक्ति प्रमाण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—देशव्रती श्रावक (विरताविरत) को भोग एवं उपभोग के निमित्त से ही हिंसा हुआ करती है अतः वस्तु तत्त्व जानकर अपनी शक्ति के अनुसार भोगोपभोगों का प्रमाण करना चाहिए।

भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुओं में सुख नहीं है। यदि ऐसा अनुभव हो जावे और यह जान लिया जावे कि ये भोग ही तृष्णा को जन्म देकर सुख नहीं आकुलता को बढ़ाने वाले हैं, अतः इनके त्याग में ही सार है, तो इनके त्याग करने में फिर तनिक भी देर न लगे। अतः आचार्यश्री ने वस्तु तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की बात कह कर अपनी शक्ति अनुसार भोगोपभोग परिमाण करने का उपदेश दिया है।

जिन्हें विषयों के भोगोपभोग करने में ही सुख की कल्पना बनी हुई है वे उनका त्याग रुचिपूर्वक नहीं कर सकते, अतः त्याग के पूर्व तत्त्व ज्ञान आवश्यक है। संयमपूर्वक जीवन निर्वाह करते हुए मानव निराकुलता से धर्माराधन करने में तभी समर्थ होता है।

(१६२)

भोगोपभोग परिमाण विधि

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ।।१६२।।

साधारण बहु काय वनस्पति में रहते हैं जीव अनंत—
उसका भक्षण किये नियम से अवतरती हिंसा अत्यंत—
एक कंद भोगेच्छुक जन से—जीव मरेंगे सीमाहीन
श्रावक हित में अतः त्याग ही श्रेयस्कर है सर्वाङ्गीण।

भावार्थः- —सर्वप्रथम भोगोपभोग का परिमाण करने वाले श्रावक को अनन्तकाय वनस्पति के सेवन का सर्वथा त्याग करना चाहिए; क्योंकि उसके सेवन करने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है।

अनन्त काय वनस्पति उसे कहते हैं जिसके एक शरीर के स्वामी अनन्त जीव होते हैं। जैसे आलू, अरबी, शकरकन्द, अदरक आदि।

(१६३)

नवनीतादि अन्य अभक्ष्यों के सेवन का निषेध

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ।।१६३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनि प्रवीण नवनीत त्याज्य है–बहुजीवों का योनिस्थान–
घटिका-द्वय पश्चात् जहाँ हो जीवों की उत्पत्ति महान।
रस चलितादिक अन्य वस्तुएँ भी जो हों मर्याद विहीन–
असनशुद्धि हित वे प्रणपूर्वक त्याज्य विहित हैं सर्वांङ्गीण।

भावार्थः–नवनीत (मक्खन) के सेवन का भी त्याग करना चाहिए; क्योंकि वह बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान है (जिसमें दो मुहूर्त्त के पश्चात् त्रस जीवों की उत्पत्ति होने लगती है) इसके सिवाय भोजन की शुद्धि के लिए जिन पदार्थों का सेवन अभक्ष्य होने से निषिद्ध है उन सबका भी त्याग अवश्य करना चाहिए।

(१६४)

भक्ष्य वस्तुओं का भी राग कृश करने के लिये त्याग करने का उपदेश

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपिसीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ।।१६४।।

सेवन योग्य वस्तुएँ अगणित रह जाती हैं फिर भी शेष–
यथा शक्ति उनका भी सेवन त्याग करें धीमंत विशेष।
जिन्हें सर्वथा त्याग सके नहि, उनका करना परिसंख्यान–
पक्ष, मास, दिन, पहर, काल कृत मर्यादा में सूत्र प्रमाण।

भावार्थः–इसके अतिरिक्त जिन वस्तुओं के भोगने में कोई दोष या पाप नहीं है उनका भी बुद्धिमानों को यथाशक्ति त्याग करना चाहिए और जिनका जीवन पर्यंत त्याग नहीं किया उनके सेवन की भी दिवस रात्रि आदि के नियम से सीमा करते रहना चाहिए।

पर वस्तुओं से निवृत्ति एवं वीतरागता की ओर प्रवृत्ति करने के लिए इन्द्रिय भोगों के प्रति रुचि को कम करते हुए उनका अधिकाधिक त्याग करते रहना आवश्यक है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि इन्द्रिय भोगों की लालसा को कम करते हुए उसे समाप्त कर दिया जाय।

(१६५)

त्याग की सीमा में अन्तर सीमा करने का निर्देश

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजांशक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या ।।१६५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वकाल कृत सीमा में भी अन्तर सीमा कर निर्धार–
भोगों को कृश करें भव्य जन अपनी अपनी शक्ति विचार
सद् गृहस्थ यों इन्द्रिय भोगों को कृश करता जो मतिमान्–
संयम पथ पर पूर्णतया वह इक दिन हो आरूढ़ महान।

भावार्थः–भोगोपभोग का त्याग करते समय जिस वस्तु को उपयोग में न लाने की मर्यादा थोड़े समय के लिए की है उसे काल की मर्यादा बढ़ा कर त्याग में बृद्धि प्रतिदिन करते रहना चाहिए। और ऐसा करते समय अपनी शक्ति का भी विचार कर लेना चाहिए–ताकि मर्यादा भंग होने का प्रसंग न आने पावे।

(१६६)

भोगोपभोग परिमाण व्रत की महत्ता

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥१६६॥

संयम पथ पर रूढ़ गृही जो–विषय विरत रह सतत प्रवीण
परिमित पंचेन्द्रिय भोगों में रह सन्तुष्ट बने स्वाधीन
वह बहुतर हिंसा का निश्चित जीवन में कर प्रत्याख्यान–
परम अहिंसा आत्मसात् कर पायें अनुक्रम पद निर्वाण।

भावार्थः–इस प्रकार जो पुरुष परिमित भोगों से सन्तुष्ट होकर–भोगों के बहुभाग का परित्याग करता है उसके रागरूप भावहिंसा एवं जीवों के घात रूप द्रव्य हिंसा का अधिकांश में अभाव हो जाने से अहिंसाव्रत सविशेष रूप में समृद्ध होता चला जाता है।

भोगों में अरुचिपूर्वक उनका त्याग करना ही एक प्रकार से रागादि का त्याग है और रागादि विकारभावों का त्याग ही हिंसा का त्याग है एवं अहिंसा को समृद्ध बनाना है।

(१६७)

अतिथि संविभाग (वैयाव्रत)

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥१६७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दातारों के सप्त सुगुण युत स्वपर अनुग्रह हेतु स-मान–
विधिवत् द्रव्य विशेष देय का संविभाग कर शक्ति प्रमाण।
निर्विकार निर्ग्रन्थ दिगम्बर–साधुजनों को देना दान–
वैयाव्रत या संविभाग व्रत–प्रतिपादित है सूत्र प्रमाण।

भावार्थः–प्रतिदिन स्व-पर कल्याण हेतु दातार के गुणों से सम्पन्न श्रावक को जात रूप (दिगम्बर) साधु जैसे अतिथि को विधि एवं भक्ति-पूर्वक देने योग्य विशेष द्रव्य का विभाग कर दान अवश्य करना चाहिए।

इसे अतिथि संविभाग अथवा वैयावृत्य नाम का चतुर्थ शिक्षाव्रत कहा गया है।

(१६८)

पात्र दान की विधि (नवधा भक्ति)

संग्रमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामञ्च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

सविनय पात्रों का आह्वानन, कर प्रदान पुनि उच्चस्थान–
पग प्रक्षालन एवं अर्चन–अभिनन्दन-पूर्वक बहुमान।
मन वच काया शुद्धि पुरस्सर–करना शुद्धाहार प्रदान
वैयाव्रत में एवं नवधा–भक्ति विदित है सूत्र प्रमाण।

भावार्थः–प्रथम आदरपूर्वक पड़गाहना (आह्वान करना) उच्च-स्थान देना; पाद प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मन शुद्धि (भाव शुद्धि), वचन शुद्धि, काय शुद्धि पूर्वक शुद्ध आहार प्रदान करना। इसे नवधा भक्ति भी कहते हैं। यह पात्र दान की विधि है।

उत्तम पात्रों (मुनिराजों) के प्रति उक्त नवधा भक्ति करना अनिवार्य है। मध्यम और जघन्य पात्रों के प्रति भी यथायोग्य आदर सत्कारपूर्वक दान देने का विधान किया गया है। पात्रों को दान भक्ति पूर्वक धर्म बुद्धि से धर्म की वृद्धि एवं संरक्षण की भावना से परम वात्सल्य प्रकट करते हुए देना चाहिए।

इसके सिवाय दानी को दीन-दुःखी, अनाथ एवं रोगियों के प्रति करुणाभाव रखते दान करने का विधान भी किया गया है जिसे करुणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दान कहा जाता है। करुणा बुद्धि से जो दान दिया जावे उसमें भी अपनी उच्चता का अभिमान रखते हुए या दीन-दुःखियों का तिरस्कार अथवा अपमान करते हुए दान नहीं देना चाहिए; प्रत्युत् उसे भी दया पूर्वक उदारता, नम्रता और सेवा भाव से ही देना चाहिए।

(१६९)

दातार की विशेषताएँ (सप्त गुण)

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ।।१६९।

किंचित् भी ऐहिक फल बाँछा—मन में नहि करना दे दान।
सहनशीलता आत्मसात् कर तजना मायाचार-निदान।
देकर दान विषाद न कर रह—इतर दातृ प्रति ईर्षाहीन
प्रमुदित रहते मान न करना प्रवर दातृगुण सप्त प्रवीण !

भावार्थः—(१) दान देकर किसी ऐहिक (धनादि) फल की या अन्य स्वार्थसिद्धि की कामना न करना। (२) क्षमाशील होना, (३) कपट (मायाचार) न करना, (४) अन्य दातारों से ईर्ष्या न करना, (५) दान देकर चित्त में विषाद न करना, (६) दान देकर अहोभाग्य मानते हुए प्रसन्न होना, (७) अहंकार न करना कि 'मैं बड़ा दानी हूँ'। इस प्रकार ये दातार के सप्त गुण हैं।

(१७०)

देय द्रव्य की विशेषताएँ

रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेवदेयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ।।१७०।।

पीड़ा, राग, द्वेष, मद, भय, भ्रम—कारक हो नहिं जो मतिमान्
समुचित सात्विक शुद्ध द्रव्य ही देय बंधु ! है पात्र प्रमाण।
तप संयम स्वाध्याय ध्यान का साधक भी हो जो अमलीन
वही वस्तु धर्मार्थ देय है—भक्तिभाव युत शुद्ध, प्रवीण !

भावार्थः—जिसके सेवन करने से पात्र में रागद्वेष, असंयम, मद आकुलता, काम विकारादि दोषों की उत्पत्ति न हो और जो तप स्वाध्याय ध्यानादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म साधन में सहायक हो ऐसा आहार ही साधु पुरुषों को देना चाहिए।

यों तो प्रत्येक कार्य में सावधानी वरतना चाहिए; किन्तु साधुओं के आहार में विशेष सावधानी आवश्यक है; क्योंकि साधु पुरुषों का आहार श्रावकों के आश्रित रहा करता है। अतः श्रावकों का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उनके लिए शुद्ध निर्दोष एवं धर्म-साधन में सहायक भोजनपान एवं समयानुसार औषधि आदि की व्यवस्था भी करें।

(१७१)

दान पात्रों के भेद

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ।।१७१।।

दान पात्र त्रय सूत्र विहित हैं प्रथम-सुदर्शन एवं ज्ञान—
सह सम्यक् चारित्र आदरें तप श्रुत संयमशील निधान।
ऐसे महाव्रती मुनिवर ही उत्तम पात्र विहित हैं धन्य!
मध्यम-अणुव्रत युत श्रावक, पुनि— अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य।

भावार्थः—मुक्ति के कारण गुणों (रत्नत्रयों) से संयुक्त पात्रों के तीन भेद हैं:—(१) अविरत सम्यग्दृष्टि (जघन्य पात्र); (२) देशव्रती श्रावक (मध्यम पात्र), (३) महाव्रती मुनिराज (उत्तम पात्र) धार्मिक दृष्टि से मुक्ति पथ पर आरूढ़ धर्मीजन ही दान के वास्तव में पात्र माने गये हैं। अतः इन्हें श्रद्धाभक्तिपूर्वक दान करने का अतिथि संविभाग व्रत मे विधान किया गया है और अतिथि संविभाग व्रत का पालन न करने वाले साधारण गृहस्थों को भी देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—इन षट्कर्मों का पालन करना आवश्यक माना गया है। इन में भी भगवत्पूजा और दान ये प्रत्येक गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्य कहे गये हैं।

(१७२)

दान भी अहिंसा का अंग है

हिंसायाःपर्य्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्यपरमणमेवेष्टम् ।।१७२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा का पर्याय लोभ है जो विनष्ट हो देकर दान—
धर्म अहिंसा की प्रवृत्ति में अतिथिदान है सर्व प्रधान।
अतः विहित है श्रावक जनहित—नित प्रति श्रद्धा भक्ति समान
धर्मो जन की सेवा करना करते आहारादि प्रदान।

भावार्थः—यतः दान देने में हिंसा की ही लोभ पर्याय का नाश किया जाता है इसलिए अतिथि संविभाग (दान) व्रत को एक प्रकार से, अहिंसा का ही एक अंग कहा गया है। चूंकि लोभ कषाय एक प्रकार से भाव हिंसा है जिसकी दान करने से पर्याप्त मात्रा में कमी हो जाती है, अतः इससे अहिंसा व्रत की पुष्टि और स्व-पर कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

(१७३)

मुनिदान न देने वाला लोभी गृहस्थ हिंसक है

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं नहि लोभवान् भवति ।।१७३।।

अहो ! अतिथि बन मुनिजन मधुकर—वृत्तिद्वार लें भुक्ति प्रवीण !
पर पीड़न विरहितउनमुनि हित—जो आहार न दे मतिहीन—
होगा सिद्ध न लोभी क्यों कर—वह अनुदार हृदय तत्काल—
होकर विमुख गृहागत मुनिवर—हो जायें प्रस्थित जिस काल ?

भावार्थः—गृह के द्वार पर आकर उपस्थित हुए एवं भ्रामरी वृत्ति से आहार ग्रहण कर दूसरों को किञ्चित् भी पीड़ा न पहुँचाने वाले अतिथियों (मुनिजनों) को जो दान नहीं करता वह लोभी कैसे नहीं है? अवश्य है।

जो लोभी है वह रागी है और जो रागी है वह हिंसक है। जैसे भौंरा फूलों को तनिक भी न सताते हुए उनका स्वल्प मात्रा में रस ग्रहण कर उससे अपनी क्षुधा शान्त कर लेता है वैसे ही साधु भी गृहस्थ को कष्ट न दे स्वल्पाहार द्वारा उदर पूर्ति कर लेते हैं। उनकी भिक्षा वृत्ति को इसीलिए भ्रामरी वृत्ति कहा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१७४)

निर्लोभी उदार दानी अहिंसक है

कृतमात्मार्थम् मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ।।१७४।।

हेतु स्वयं के निर्मित भोजन जब सुपात्र हित किया प्रदान
त्याग भाव संयुत है उस क्षण—अरति कषाय विमुक्त निदान—
शिथिलित लोभवान् वह श्रावक—हिंसा का कर प्रत्याख्यान—
दातृ शिरोमणि बने-अहिंसक आत्मसात् कर धर्म महान ।

भावार्थः—जो व्यक्ति अपने या अपने कुटुम्ब के लिए निर्मित भोजन में से त्याग भावनापूर्वक अरति और विषाद रहित चित्त से लोभ को शिथिल करता हुआ दान देता है उसका वह दान अहिंसा ही है।

इति सप्तशील प्ररूपणा

इस प्रकार सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत श्रावक के देशचारित्र का वर्णन पूर्ण हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ अध्याय

(सल्लेखनाधिकारः)

(१७५)

सल्लेखना का स्वरूप और महत्व

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुँ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्तचा ॥१७५॥

धर्मरूप संचित निजनिधि को ले जाने परलोक हि संग।
सल्लेखन व्रत ही समर्थ है—जो कि अहिंसा है सर्वाङ्ग।
अतः सुरुचि युत सतत यत्न कर—कृश करिये रागादि विकार—
जीवन में जिससे खुल जायें सहज हि स्वर्गमुक्ति के द्वार।

भावार्थः—यह सल्लेखना नामा एक अन्तिम व्रत ही धर्मरूपी-धन को परभव में ले जाने में समर्थ है। इसलिए श्रद्धाभक्तिपूर्वक अपने जीवन में समाधि-मरण करने की भावना अवश्य वनाये रखना चाहिए।

सुनिश्चित रूप में अनिवार्य रूप से समागत मृत्यु को निकट जानकर मरण समय में काय और कषायों को भली-भाँति कृश करने को सल्लेखना या समाधिमरण कहते हैं। इस समय समस्त सूक्ष्म स्थूल पापों, क्रोधादि कषायों एवं सब जीवों तथा वस्तुओं से राग द्वेषादि का परित्याग कर धर्मध्यान पूर्वक आत्मा और परमात्मा के गुणों का चिन्तन करते हुए शान्त भाव से शरीर का त्याग करना चाहिए। इस समय अन्न-पानादि का त्याग भी क्रम या अक्रम से यथा परिस्थिति कर देना चाहिए।

(१७६)

अनागत सल्लेखना का वर्तमान में परिपालन

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इतिभावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदंशीलम् ॥१७६॥

'मरण समय स्वीकार करूँगा मैं सल्लेखन व्रत अम्लान।'
एवं सतत भावना वश जो करता क्षीण कषायें म्लान—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावी सल्लेखन व्रत पालक बन कर वह जन निष्ठावान्
पाप वृत्तियों से विरक्त रह आत्म शुद्धि करता मतिमान् ।

भावार्थः—"मैं अन्त समय विधिपूर्वक सल्लेखना व्रत का पालन करूँगा"—ऐसी हार्दिक भावना से भावी सल्लेखना व्रत का अभी से संकल्प कर लेना भावी सल्लेखना व्रत का पालन करना कहलाता है।

सल्लेखना की सतत भावना रखने से मनुष्य को संकल्प करने के समय से ही सल्लेखना का पालन एवं मरण समय समाधि धारण करने का उत्साह तथा ध्यान में सावधानी बनी रहती है।

(१७७)

सल्लेखना व्रत आत्मघात नहीं

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ।।१७७।।

'सल्लेखन व्रत आत्मघात है—' कथन सत्य नहि यह मतिभ्रांत !
यतः मृत्यु होना जब जन की निश्चित हो जाए निभ्रन्ति—
पाप कषाय विसर्जन कर तब शांति पुरस्सर तजना प्राण—
आत्म घात कैसे कहलाये, मृत्यु महोत्सव सुखद महान ?

भावार्थः—जबकि मरण अवश्यम्भावी हो—अर्थात् किसी भी उपाय से जब जीवित रहने की संभावना नहीं रही हो तब कषायों एवं समस्त वस्तुओं से राग द्वेष मोह के परित्याग पूर्वक शरीर का परित्याग करने में प्रवर्त्तमान व्यक्ति को आत्मघात का पाप नहीं लगता; क्योंकि मरण तो निश्चित रूप में होने जा ही रहा है, तब कुछ क्षणों या समय के लिए निष्कषाय होकर शान्तभाव पूर्वक समस्त पापों का त्याग कर के मरना ही आत्म हित की (अपने पुरुषार्थ सिद्धि की), अभिवृद्धि-कारक है। अतः उसे आत्मघात नहीं कह सकते।

(१७८)

आत्मघात की परिभाषा

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ।।१७८।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्वासरोध कर जो कषायवश– देह त्याग करता मतिहीन–
अग्नि दाह या जल समाधि ले–प्राण तजै गह भाव-मलीन–
विष भक्षण या शस्त्र प्रहारण–कर मरना भी एक प्रकार–
आत्मघात संज्ञा पाता है, नहिं सल्लेखन विधि अनुसार।

भावार्थः–जब क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा मोहादि के वश होकर श्वास का निरोध कर, जल में डूब कर, अग्नि में कूद कर, विष भक्षण कर, शस्त्रादि से मस्तकादि छिन्न कर फाँसी लगा कर या रेल आदि से कट कर अथवा ऐसी ही अन्य किसी अनुचित विधि द्वारा अपने प्राणों का विनाश किया जाता है–उसे आत्मघात कहते हैं।

परन्तु सल्लेखना में तो मृत्यु जब स्वयं समीप आ जाती है और उससे बचने का कोई उपाय नहीं रहता तब मरते समय केवल पापों, कषायों एवं इंद्रिय विषयों का त्याग करते हुए धर्म ध्यान में लीन हुआ जाता है एवं शांतिपूर्वक शरीर का विसर्जन किया जाता है। इसे आत्मघात कैसे कह सकते हैं? आत्मघात और सल्लेखना में इस भाँति महान अंतर है। आत्मघात महान पाप है और सल्लेखना धर्मीजनों का परम कर्त्तव्य है।

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में स्पष्ट लिखा है कि जब कोई उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा, रोग आदि का किसी भी प्रकार प्रतीकार न किया जा सके और मृत्यु अनिवार्य रूप में दिखाई देने लगे तब धर्मार्थ शरीर का त्याग करने को सल्लेखना कहते हैं।

यदि किसी बीमारी संकट अथवा अन्य आपत्ति विपत्ति से बचने का उपाय संभव हो तो उपाय अवश्य करना चाहिए, उस समय घबरा कर प्राण त्याग करने की आवश्यकता नहीं। सल्लेखना तो मृत्यु की अनिवार्यता के उपस्थित होने पर ही की जाती है।

(१७९)

सल्लेखना व्रत द्वारा अहिंसा में वृद्धि

नीयन्तेऽत्रकषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसा प्रसिद्ध्यर्थम्॥१७९॥

हिंसा की पर्याय कषायें हों सल्लेखन व्रत कर क्षीण–
अतः अहिंसा संवर्द्धन हित है यह आदरणीय प्रवीण!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः—यतः सल्लेखना व्रत द्वारा हिंसा के मूल कारण कषायों को कृश किया जाता है अतः सल्लेखना को अहिंसा की सिद्धि का परम साधक निरूपित किया गया है।

(१८०)

उपरोक्त शील व्रतों से लाभ

इति यो व्रतरक्षार्थम् सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

व्रत संरक्षण हित जो करता उक्त शील व्रत अंगीकार—
स्वयंवरी कन्या सम उसको मुक्ति रमा करती स्वीकार।

भावार्थः—इस प्रकार जो साधक अणुव्रतों की रक्षा के लिए उल्लिखित सम्पूर्ण शील-व्रतों का निरन्तर पालन करता है उसे मुक्तिश्री अति उत्सुकतापूर्वक स्वयंवर में कन्या के समान स्वयमेव शीघ्र ही वरण कर लेती है।

अतः व्रतों के साथ उपर्युक्त शील व्रतों का पालन अवश्य करना चाहिए।

इति सल्लेखनाधिकारः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचम अध्याय

(अतीचाराधिकारः)

उक्त प्रकार पुरुषार्थसिद्धि के उपाय स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत एवं अन्तिम सल्लेखना व्रत का श्रावक धर्म के रूप में वर्णन किया। इन का पालन करते हुए व्यक्ति को जिन-जिन भावों और कार्यों से दूषित होने, दूसरे शब्दों में उसके सम्यक्त्व तथा व्रत-शीलों में दूषण लगने की संभावना बनी रहती है—उन्हें अतीचारों के रूप में वर्णन किया जाता है। उनका विवरण निम्न प्रकार है :—

(१८१)

अतीचार

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषुशीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदित शुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१॥

दर्शन एवं व्रत शीलों की शुद्धि विनाशक शत्रु समान—
पंच पंच मिल अतीचार हैं संख्या में सत्तर परिमाण।
व्रत सापेक्ष व्रतों का होना—भंग अंशतः किसी प्रकार
अतीचार वह कहलाता है, जो सुत्याज्य है निम्न प्रकार।

भावार्थः—सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) में, व्रतों में, और शीलों में मुख्यतः पाँच-पाँच अतिचारों (दोषों) का जिन कार्यों से लगना सम्भव है उनकी संख्या सत्तर है। ये दोष व्रतादि की शुद्धि के प्रतिबन्धक हैं और यथोचित मार्ग को दूषित कर उससे भ्रष्ट कर सकते हैं अतः ये हेय हैं।

व्रत धारण करने के पश्चात् उसमें दृढ़ता की कमी से परिस्थिति वश दूषण लगाने या उसे अंश रूप में भंग करने को अतीचार कहते हैं। तथा व्रत लेकर उसकी उपेक्षा करते हुए उसे भंग कर देने को अनाचार कहते हैं।

(१८२)

सम्यग्दर्शन के अतीचार

शंकातथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवाऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन वचनों में शंका करना—भोगाकांक्षा और निदान—
दीन हीन या पुरीषादि लख ग्लानि द्वार करना मन म्लान।
मिथ्यात्वी का संस्तव करना मनसि प्रशंसा पूर्ण विचार
सम्यग्दर्शन दूषित करते अतीचार ये पंच प्रकार।

भावार्थः—(१) जिनेन्द्र देव की तत्त्व प्रतिपादक अनेकान्तमयी वाणी में शंका करना; (२) इस लोक या परलोक में सांसारिक भोगों की या पदों की आकांक्षा करना (३) साधु पुरुषों, दीन-दुःखियों या किसी अनिष्ट वस्तु से ग्लानि करना, (४) मिथ्या दृष्टियों की वचनों से स्तुति करना, (५) मिथ्यादृष्टियों या उनके कार्यों की मन में सराहना या प्रशंसा करना। ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। इनसे सम्यक्त्व दूषित होता है।

(१८३)

अहिंसाणुव्रत के अतीचार

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अंग भंग प्राणी का करना अथवा करना दण्ड प्रहार—
या फिर शृंखलादि कर बंधन शक्तिहीन पर अतिशय भार।
उचित समय आश्रित जीवों को समुचित नहिं देना आहार—
अहिंसाणुव्रत दूषित करते कार्य उल्लिखित पंच प्रकार।

भावार्थः—(१) पशु-पक्षी आदि किसी के भी अंग छेदना, (२) ताड़न करना (मारना-पीटना) (३) रस्सी आदि से बाँधना (४) उन पर या अपने अन्याश्रितों पर शक्ति से अधिक भार लादना, (५) समय पर आहारादि न देना। ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतीचार हैं। इनसे बचना चाहिए।

(१८४)

सत्याणुव्रत के अतीचार

मिथ्योपदेशदानं रहसोभ्याख्यान कूटलेखकृती।
न्यासापहार वचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दे मिथ्या उपदश जनों की—चित्त वृत्ति करना विभ्रांत।
गुप्त रहस्य प्रकाशन द्वारा प्रमुदित चित्त बनाना क्लांत।
पर न्यासापहरण भावों कर करना अपने वचन प्रयोग—
कूट लेख, पर अभिप्रायों के प्रकटन का दूषित उद्योग।

भावार्थः—(१) मिथ्या उपदेश देना, (२) किसी की गुप्त बात प्रकट करना, (३) झूठे दस्तावेज या लेख लिखना, (४) किसी की धरोहर (अमानत) रखी हुई वस्तु के अपहरण करने वाले मायाचारी (कपटपूर्ण) वचनों का प्रयोग करना, (५) दूसरे की चेष्टाओं से उसके मनोभाव (जानकर अन्यत्र प्रकट कर देना। ये पाँच सत्याणुव्रत के अतीचार हैं।

(१८५)

अचौर्याणुव्रत के अतीचार

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

पर द्रव्यापहरण विधि शिक्षण, प्रतिरूपक-मिश्रण व्यवहार।
तस्कर धन अति स्वल्प मूल्य में तृष्णा वश करना स्वीकार।
राजकीय विधि उल्लंघन या कर न चुकाना नियम प्रमाण।
हीनाधिक मानोन्मान कर पर वंचन, व्रत दूषण जान।

भावार्थः—(१) अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की उसी के समान वस्तु मिलाकर अधिक मूल्य में बेचना, (२) चोरी के उपाय बताना (३) चोरी का माल लेना, (४) राज्य के नियमों का उल्लंघन करना, (५) देने लेने के बाँट, गज आदि मापदण्डों को हीनाधिक रखना। ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतीचार हैं।

(१८६)

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार

स्मरतीव्राभिनिवेशाऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८५॥

कामभोग की तीव्र लालसा या अनंग क्रीड़ादि विलास।
अन्य जनों के परिणय बंधन करवाने का सुरुचि प्रयास।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिग्रहीत अपरिग्रहीत द्वय—इत्वारिकाओं के आवास—
गमनागमन क्रिया करने से—व्रत दूषित हो बिना प्रयास।

भावार्थः—(१) काम सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना; (२) अनंग क्रीड़ा करना—अर्थात् काम सेवन के अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम सेवन करना। (३) दूसरों के विवाह करवाना। (४) विवाहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना-जाना, (५) अविवाहित वैश्यादि के यहाँ आना-जाना। ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार हैं। इनसे ब्रह्मचर्यव्रत दूषित होता है।

(१८७)

परिग्रह परिमाण व्रत के अतीचार

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्यभेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, रजत, पट स्वर्ण, भांड या दासी, दास।
इनके परिमाणों का व्रत ले—पुनि बन कर तृष्णा का दास।
मर्यादा उल्लंघन करना या हीनाधिक करना जान।
व्रत परिग्रह परिमाण इसी से—दूषित होता सूत्र प्रमाण।

भावार्थः—भूमि—मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, दासी-दास और वस्त्र-बर्तन—इन पाँच बाह्य परिग्रह युगलों के किये हुए परिमाण का अतिक्रमण (उल्लंघन) करना परिग्रह-परिमाण व्रत के अतीचार हैं। जैसे भूमि और मकानों की निश्चित की गई सीमा में भूमि को कम कर मकानों की संख्या बढ़ा लेना अथवा मकानों को कम कर भूमि की सीमा बढ़ा लेना। आदि कार्य दोषास्पद हैं।

(१८८)

दिग्व्रत के अतीचार

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्य्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

ऊपर नीचे अथवा समतल—कृत भू सीमाएँ कर पार।
पावन व्रत को दूषित करना दूषण हों ये तीन प्रकार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सीमा का विस्मरण नाम का दूषण भी है एक प्रकार—
होकर तृष्णा वश दिग्व्रत की—सीमा का करना विस्तार।

भावार्थः—(१) ऊपर की (२) नीचे की तथा (३) समतल भूमि की सीमाओं का उल्लंघन करना, (४) सीमाओं का बढ़ा लेना, (५) व्रत की सीमाओं को भूल जाना, ये पाँच प्रथम शील दिग्व्रत के अतीचार हैं।

(१८९)

देशव्रत के अतीचार

प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

इष्ट वस्तुएँ प्रेषण करना सीमा बाहर विविध प्रकार—
या मँगवाना अथवा करना—वार्तालापें सीमापार।
रूप दिखा इंगित कर अपना—कार्य सिद्ध करना मतिमान् !
देशव्रती का व्रत निश्चित ही कार्य सभी ये करते म्लान।

भावार्थः—(१) देशव्रत की सीमा के बाहर कोई वस्तु या किसी व्यक्ति को भेजना, (२) सीमा के बाहर से कोई वस्तु मँगवाना, (३) व्रत की सीमा के बाहर उपस्थित व्यक्तियों से खांसी आदि शब्द द्वारा इशारा करके अथवा बातचीत कर अपना अभिप्राय प्रकट करना, (४) अपना रूप दिखा कर सीमा बाहर संकेत (इशारा) आदि करना, (५) कंकर आदि वस्तु सीमा बाहर फेंक कर संकेत करना। ये पाँच देशव्रत के अतीचार हैं।

(१९०)

अनर्थदण्ड व्रत के अतीचार

कन्दर्प्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्य्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०॥

मन रञ्जन हित भंड वचन या काय कुचेष्टा सँग परिहास
भोग्य वस्तु का व्यर्थ संग्रहण अर्थ शून्य करना बकवास।
असमीक्षित कार्यों का करना—ये सब बातें नियम प्रमाण—
अवधारित व्रत को करती हैं—निश्चित ही दूषित, मतिमान् !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थः–(१) किसी की हँसी या मजाक कर खिल्ली उड़ाना (२) शरीर से कुचेष्टा करना (आँखें मटकाना आदि) (३) बिना प्रयोजन भोगोपभोग की वस्तुओं का संग्रह करना, (४) व्यर्थ प्रलाप (बकवास) करना, (५) बिना विचारे निरुद्देश्य कोई भी कार्य करना। ये पाँच अनर्थदण्ड व्रत के अतीचार हैं।

(१९१)

सामायिक के अतीचार

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ।।१९१।।

मन चंचल करना विकल्प कर संभाषण करना वच द्वार–
काया को सुस्थिर नहि रखना व्रत पालन करना मन मार।
अथवा पाठ विस्मरण करना दूषण ये सब सूत्र प्रमाण–
सामायिक व्रत में दरशाते–गणधरादि आचार्य महान।

भावार्थः–(१) मन में सामायिक करते समय सांसारिक संकल्प-विकल्प करना (२) वचन को वश में न रखना, (३) शरीर या उसके अंगों का चलायमान करना, (४) सामायिक का अनादर पूर्वक जैसे-तैसे (बेगार टालने जैसे) करना; (५) सामायिक, मंत्र, पाठ, या विधि को भूल जाना। ये सामायिक के पाँच अतीचार हैं।

(१९२)

प्रोषधोपवास के अतीचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ।।१९२।।

जीव जंतु संरक्षण पर नहि–देते हुए तनिक भी ध्यान–
उपकरणादि उठाना, धरना, संस्तरणादि बिछाना तान।
व्रत का उचित समादर कर नहि किंचित् भी करना मन म्लान।
व्रत कर्त्तव्य विस्मरण करना प्रोषध-दूषण पंच प्रधान।

भावार्थः–(१) बिना देखे शोधे वस्तुओं का (पूजनादि सामग्री) उठाना। (२) बिना देखे शोधे वस्तु या उपकरणादि का रखना, (३) बिना देखे शोधे बिस्तर बिछाना, (४) उपवास के नियमों या कर्त्तव्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का भूल जाना, (५) उपवास और इसकी क्रियाओं में अनादर करना। ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतीचार हैं।

(१९३)

भोगोप भोग परिमाण व्रत के अतीचार

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

धारण कर भोगोपभोग व्रत करना ग्रहण सचित्ताहार।
या सचित्त संबंधित भोजन रुचिपूर्वक करना स्वीकार।
वा सचित्त सम्मिश्रित भोजन भी दूषित है रागाधीन–
पौष्टिक रस परिपूर्ण भुक्ति वा अपरिपक्व भी तजहु प्रवीण।

भावार्थः–(१) सचित्त वस्तु का आहार करना, (२) सचित्त-मिश्रित वस्तु का आहार करना, (३) सचित्त से सम्बन्धित वस्तु का आहार करना, (४) दुःपक्व (कच्ची-पक्की) वस्तु को खाना; (५) प्रमादबर्द्धक अभिषव आहार का करना जिससे कामादि विकार पैदा हों। ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतीचार हैं।

(१९४)

अतिथि संविभाग व्रत के अतीचार

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्य्यम् चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

स्वयं न आदर कर पात्रों का अन्य द्वार करवाना दान
हरित पत्र में रख वा ढक कर करना प्रासुक वस्तु प्रदान,
दातारों से ईर्षा करना, समय टाल देना आहार
ये सब संविभाग व्रत के हैं–सूत्र विहित पंचातीचार।

भावार्थः–(१) कार्याधिक्य के कारण स्वयं दान न देकर दूसरों से दिलवाना अथवा दूसरों की वस्तु से दान करना; (२) सचित्त हरित पत्रादि में रखी वस्तु को दान करना, (३) हरित (सचित्त) वस्तु से ढकी हुई भोजन सामग्री का दान करना; (४) समय टाल कर आहार देना, (५) अन्य दातारों से ईर्ष्या कर दान देना। ये अतिथि संविभाग व्रत के अतीचार हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१९५)

सल्लेखना व्रत के अतीचार

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च ।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखना काले ।।१९५।।

पंच दोष सल्लेखन व्रत में प्रतिपादित हैं सूत्र प्रमाण–
अधिक समय जीवन की बाँछा, शीघ्र मरण कांछा-दुर्ध्यान ।

मित्रों प्रति अनुराग जताना पूर्व सुखानुभवन तत्काल
भावी भोग विषय अभिलाषा कर फँस जाना पुनि भ्रमजाल ।

भावार्थः–सल्लेखना व्रत लेकर (समाधिमरण धारण कर) अधिक समय जीने की अभिलाषा करना; (२) या शीघ्र मरण की चाह करना, (३) उस समय अपने मित्रों का अनुरागपूर्वक स्मरण करना, (४) अपने जीवन में पूर्वकालिक भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, (५) निदान करना (अगले भव में समाधिमरण या धर्म सेवन के फलस्वरूप उच्च पद या धन-वैभवादि की वांछा करना। ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतीचार हैं।

(१९६)

निर्दोष व्रतों के पालन से पुरुषार्थ सिद्धि

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्यपरिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ।।१९६।।

उपर्युक्त दूषण दरशाये–श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण
तदतिरिक्त संभाव्य दोष भी टाल बनों व्रत निष्ठावान्

जो निर्मल सम्यक्त्व, शील, व्रत, द्वार साधना करें प्रवीण ।
वे सत्वर पुरुषार्थ सिद्धि संवरण करें भविजन शालीन ।

भावार्थः–इस प्रकार इन पाँच-पाँच अतीचारों एवं इनके सिवाय अन्यान्य दोषों * से विचारपूर्वक निवृत्त हो कर विवेकी पुरुष निर्मल सम्यक्त्व, व्रतों और शीलों के परिपालन द्वारा अपने पुरुषार्थ की सिद्धि को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*अतिक्रमो मानसशुद्धिहानि र्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा।
तथातिचारं करणालसत्वं भंगोह्यनाचारमिह व्रतानाम् ॥

अर्थ—व्रतों के परिपालन में मानसिक दृढ़ता या पवित्रता यदि नष्ट हो तो अतिक्रम नाम का दोष है। विषयाभिलाषा रूप मलिन भाव का होना व्यतिक्रम नाम का दोष है। व्रतों के पालन में आलस्य या शिथिलता का होना अतिचार नाम का दोष है। तथा व्रत को भंग ही कर देना अनाचार है। इन सभी दोषों को टालकर लिये हुए व्रत का संरक्षण करना चाहिये।

इति देश चारित्र व्याख्यानम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षष्ठम अध्याय

(सकल चारित्राधिकार)

(१९७)

सम्यक् तप और उसका महत्व

चारित्रान्तर्भावात् तपोपि मोक्षाङ्गमागमे गदितं।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ।।१९७।।

सम्यक् तप भी सुचारित्र का प्रतिपादित है अंग प्रधान—
जिससे चिर संचित कर्मों का हो समग्रतः पर्यवसान।
अतः प्रवर पुरुषार्थ सिद्धि वा कर्म कालिमा करने क्षीण—
सावधान रह सतत सुविधिवत् यथाशक्ति तप करहु प्रवीण !

भावार्थः—चारित्र के अन्तर्गत होने से जैनागम में तप को भी मोक्ष का अंग निरूपण किया गया है। अतः विवेकी पुरुषों के द्वारा अपनी शक्ति न छिपा कर एकाग्र चित्त से तप करना चाहिए।

आगम में "इच्छा निरोधस्तपः" अर्थात् इच्छाओं का निरोध करना ही तप का लक्षण कहा गया है और संवरपूर्वक निर्जरा करने का तप ही प्रमुख साधन है : इसीलिए तीर्थंकरादि महान पुरुषों ने भी निर्जन वनों में घोर तपस्या द्वारा कर्मों की निर्जरा द्वारा मुक्ति को प्राप्त किया है।

विद्वत्प्रवर पं. टोडरमलजी ने अपनी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका में लिखा है कि—'तप एक प्रकार व्यवहार चारित्र है। व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र की प्राप्ति होती है अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना निश्चय चारित्र की जो कि स्वरूपाचरण रूप सम्यक्चारित्र है—प्राप्ति होती ही नहीं। इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को तप अवश्य करना चाहिए।।१९७।।" —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र की या व्यवहार मोक्षमार्ग से निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती—ऐसी जिन लोगों की मान्यता है, वह जैनागम और पंडित प्रवर टोडरमलजी की मान्यता के विरुद्ध है। यह बात पंडितजी के उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१९८)

तप के भेद और बहिरंगतप

अनशनमवमौदर्य्यम् विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संखचा च निषेव्यमितितपो बाह्यं ।।१९८।।

अंतरंग वहिरंग भेद से तप विभक्त हैं उभय प्रकार।
अनशन, ऊनोदर विविक्त–शय्यासन वा नीरस आहार।
नित्य वृत्ति परिसंख्या करना काय क्लेश निज शक्ति प्रमाण।
ये बहिरंग तपस्या के हैं षट् प्रकार जिन सूत्र प्रमाण।

भावार्थः—अनशन, अवमौदर्य (ऊनोदर), विविक्त शय्यासन, रस परित्याग, कायक्लेश, वृत्ति परिसंख्यान, इस प्रकार ये छह वहिरंग तप सेवन करने योग्य हैं।

तप करने की भावना से जिन क्रियाओं को शरीर द्वारा किया जावे तथा जो दूसरों द्वारा देखने में आवे उन्हें बाह्य तप कहते हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप निम्न प्राकर है:—

अनशन—सब प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास करना।

अवमौदर्य—भूख से कम खाना (पूर्ण उदर न भरना)

विविक्त शय्यासन—एकाँत स्थान में सोना बैंठना (जहाँ धर्म ध्यान में दूसरों के द्वारा वाधा न आवे)।

रस परित्याग—सम्पूर्ण रसों का त्याग कर नीरस या एक दो रसों का त्यागकर भोजन पान करना।

काय क्लेश—शरीर का सुखियापन मेंटने या उससे ममत्व घटाने के लिये सर्दी गर्मी आदि की अनेक प्रकार वाधाएँ सहना।

वृत्ति संख्या—भोजन के लिये जाते हुए अटपटी प्रतिज्ञाएँ करना।

इन छह प्रकार के तपों द्वारा इच्छाओं का निरोध एवं इन्द्रियों व मन को वश करने से वीतरागता की बृद्धि होती है। अतः ये तप हैं और सम्यक्चारित्र के अंग हैं।

(१९९)

अंतरंग तप

विनयो वैय्यावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथध्यानं भवति निषेव्यंतपोऽन्तरङ्गमिति ।।१९९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोषों का प्रायश्चित करना गुरुजन-विनय तथा सम्मान।
रुग्ण वृद्ध असमर्थ साधु की वैयावृत निज शक्ति प्रमाण।
काया प्रति ममता परिहरना पुनि स्वाध्याय और सद्ध्यान—
ये तप अंतरंग संज्ञक हैं कर्म निर्जरा हेतु प्रधान।

भावार्थः—विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान ये छह अंतरंग तप हैं। जिनका सेवन करना चाहिए।

विनय—मान न करना और गुरु जनों, गुणीजनों तथा धर्मायतनों का यथायोग्य आदर करना।

वैयावृत्य—गुरु जनों एवं रोगी वृद्धादि मुनिगणों की तथा धर्मात्मा पुरुषों की यथायोग्य परिस्थिति अनुसार सेवा करना।

प्रायश्चित—अपराध हो जाने पर शुद्ध मन से दोषों का दण्ड लेना।

उत्सर्ग—शरीर एवं अन्य वस्तुओं से ममत्व का त्याग करना।

स्वाध्याय—तत्व ज्ञान की बुद्धि के लिये प्रथमानुयोग-चरणानुयोग करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग इन चारों अनुयोगों का पठन पाठन करते हुए अपने ज्ञान की वृद्धि करना।

ध्यान—समस्त संकल्प-विकल्पों, चिंताओं का निरोध कर आत्मा, परमात्मा तथा तत्व स्वरूप चिंतन में एकाग्र होकर तल्लीन होना।

(२००)

रत्नत्रय पालन करने की प्रेरणा

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्यनिजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ।।२००।।

जो समग्र आचरण साधुहित प्रतिपादित है आगम द्वार—
वह भी श्रावक द्वार सेव्य है शक्ति प्रमित निज पद अनुसार।
इससे गुण संवर्द्धन होगा दोषों का कर पर्यवसान—
जो पुरुषार्थ सिद्धि संसाधन, सूत्र विहित है सर्व प्रधान।

भावार्थः—जिनवाणी में मुनियों को जिस आचरण करने का विधान किया गया है उसका श्रावकों को भी अपनी पदवी और शक्ति के अनुसार सेवन करना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुतः चारित्रधर्म तो एकही है, जिसका पूर्णतया परिपालन मुनिराज करते हैं और श्रावकगण उसी धर्म का एक देश पालन करते हैं।

(२०१)

षड् आवश्यक

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥२०१॥

समता धर, जिन वंदन करना गुण स्तवन पुनि गा गुणगान।
कृत दोषों का प्रतिक्रमण कर आगामी का प्रत्याख्यान।
काया प्रति ममता परिहर कर—आत्मलीन बन समरसपान
ये आवश्यक पालनीय हैं सर्वसाधु हित नियम प्रमाण।

भावार्थः—समता, वंदना स्तवन प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और उत्सर्ग ये छह आवश्यक कर्म हैं जिनका अनिवार्य रूप से प्रति दिन तत्परता पूर्वक पालन करने का विधान किया गया है।

समता—समस्त जीवों और वस्तुओं में समता भाव रखना-किसी से राग द्वेष न करना।

स्तवन—जिनेन्द्र परमात्मा के गुणों की भक्ति पूर्वक स्तुति करना।

वंदना—पंच परमेष्ठियों की शुद्ध मन से वंदना (नमन) करना।

प्रतिक्रमण—अपने दोषों पर पश्चाताप करना।

प्रत्याख्यान—भविष्य में दोषों में प्रवृत्ति करने का त्याग करना व सावधान रहना।

व्युत्सर्ग—शरीर से ममत्व का त्याग कर आत्मध्यान करना।

इन छह आवश्यक क्रियाओं का भी मुनिजनों को सर्व देश तथा श्रावकों को अपने पद के अनुसार यथायोग्य पालन करना चाहिए।

(२०२)

तीन गुप्तियाँ

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

योगों का सम्यक् निग्रह ही गुप्ति विहित है सूत्र प्रमाण।
कायगुप्ति काया सुस्थिर कर हलन चलन विन करना ध्यान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वचन गुप्ति है मौन ग्रहण कर वाक् विसर्जन का परिहार—
मनोगुप्ति एकाग्र चित्त कर परम ध्यान करना स्वीकार।

भावार्थः—काय गुप्ति (शरीर को वश में रखना) वचनगुप्ति (वाणी वश कर मौन से रहना) मनो गुप्ति (मन की चञ्चलता का निरोध कर संकल्प विकल्पों का त्याग करना)। तीनों योगों को भली प्रकार वश करने को ही गुप्ति कहा गया है।

(२०३)

पंच समितियाँ

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगितिसमितिः ॥२०३॥

सावधान रह सम्यक् वर्तन समिति विहित हैं पंचप्रधान—
जीव जंतु संरक्षण करते पंथ निरख करना प्रस्थान।

हित मित प्रिय वर वाग् विसर्जन दूषण विरहित शुद्धाहार
वस्तु ग्रहण निक्षेपण एवं मलोत्सर्ग भी दृष्टि प्रसार।

भावार्थः—(१) भूमि देखकर सावधानी से गमन करना ईर्या समिति, (२) हित, मित, प्रिय वचन बोलना भाषा समिति, (३) शुद्ध निर्दोष आहार लेना एषणा समिति, (४) वस्तु को जीव जन्तु देखकर धरना उठाना आदान निक्षेपण समिति, (५) भूमि देखकर मल मूत्र श्लेष्मादि क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है।

जीवों की रक्षा का ध्यान रखते हुए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। उक्त पंच समितियों में प्रत्येक कार्य या प्रवृत्ति का समावेश हो जाता है। अतः प्रत्येक कार्य सावधानी पूर्वक करना ही श्रेयस्कर है।

(२०४)

दश धर्म

धर्मःसेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्मत्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

क्षमा, विनय, त्रय योग सरलता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग—
आकिंचन सह ब्रह्मचर्य दश धर्म सेव्य हैं सह अनुराग।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन सबके संबर्द्धन द्वारा रागद्वेष का कर अवसान–
परम अहिंसा आत्मसात् कर जन पाता पावन निर्वाण।

भावार्थः–जो प्राणियों को संसार के दुखों से छुड़ाकर उत्तम सुख प्रदान करे तथा कर्मों के बंधन से छुटकारा दिलाये उसे धर्म कहते हैं। ऐसा धर्म उत्तम क्षमादि रूप सेवन करने योग्य है।

(१) उत्तम क्षमा–क्रोध न करते हुए क्षमा को धारण करना, (२) उत्तम मार्दव–अभिमान का त्याग कर विनम्र और कोमल परिणाम रखना; (३) उत्तम आर्जव–छल कपट (मायाचार) का त्यागरूप सरल परिणाम; (४) उत्तम शौच–लोभ का त्याग कर संतोषपूर्वक भावों को शुद्ध रखना; (५) उत्तम सत्य-झूठ का त्याग कर सत्य भाषण करना; (६) उत्तम आकिंचन्य–समस्त वस्तुओं में ममत्व के अभाव पूर्वक उनसे राग का त्याग कर उन्हें ग्रहण न करना, (७) उत्तम ब्रह्मचर्य–अब्रह्म (मैथुन) या काम विकार का त्याग कर आत्मलीन होने का प्रयत्न; (८) उत्तम त्याग–रागद्वेषादि भावों का त्याग एवं धर्मोपदेशादि रूप दान करना, (९) उत्तम तप–पूर्व कथित बारह प्रकार के तपों रूप आचरण करना, (१०) उत्तम संयम–अपनी इंद्रियों एवं मन को वश में रखना तथा षट्काय के जीवों की रक्षा रूप प्रवृत्ति करना।

(२०५)

द्वादशानुप्रेक्षा

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवोजन्म ।
लोकवृषबोधिसंबरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अनुप्रेक्षाएँ चितनीय हैं, अशरण, अध्रुव तथा संसार–
आत्मैकत्व, पृथक्त्व अन्य से-देह अशुचिता सहित विचार।
आस्रव संवर बंध निर्जरा–लोक बोधि दुर्लभता जान।
धर्म स्वरूप सुचितन पूर्वक–मुनिजन करें समामृत पान।

भावार्थः–धर्म तत्व एवं संसार के स्वरूप का बारंबार चिंतन करने को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। वे १२ हैं।

(१) अनित्य भावना–अपनी शरीरादि पर्याय एवं भोग सामग्रियों की अनित्यता का चिंतवन करना कि ये सब विनाशीक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) अशरण भावना—मृत्यु एवं दुखों से धर्म के सिवाय अन्य किसी के द्वारा भी संरक्षण पाने की असमर्थता का चिंतन।

(३) संसार भावना—संसार के स्वरूप और इसके दुखमयी रूप का एवं निःसारता का चिंतन।

(४) एकत्व भावना—अपने अकेले पन का विचार कि यहाँ कोई किसी का नहीं है।

(५) अन्यत्व भावना—अपनी आत्मा से शरीर व धन गृहादि सभी वस्तुएँ पृथक् हैं ऐसा विचार करना।

(६) अशुचि भावना—यह शरीर हाड़ माँसादि अत्यंत अपवित्र वस्तुओं का पिंड है, यह कभी मोह या राग करने योग्य नहीं।

(७) आस्रव भावना—मिथ्यात्व अविरति कषाय आदि भाव कर्मास्रव के कारण हैं जो दुखदायी हैं।

(८) संवर भावना—पंच महाव्रत; समिति; गुप्ति आदि संवर (कर्मास्रव रोकने) के कारण हैं अतः उपादेय हैं।

(९) निर्जरा भावना—तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा और मोक्ष होता है जो आदरणीय है।

(१०) लोक भावना—तीन लोक की रचना का चिंतन करना और उसमें किस प्रकार जीव परिभ्रमण करता है इसका विचार करना।

(११) बोधिदुर्लभ—जीव को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप बोधि की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

(१२) धर्म भावना—संसार में धर्म ही जीवों का सच्चा बधु है जिसके आचरण से सब जीवों को सुख शाँति की प्राप्ति होती है और अधर्म शत्रु है।

मानव मन बड़ा चञ्चल है उसमें क्षण क्षण में नाना प्रकार के भले बुरे विचार उत्पन्न होते रहते हैं। जिन विचारों से आत्मा को अनेक प्रकार के मानसिक कष्टों एवं आकुलताओं एवं व्यग्रता का सामना करना पड़ता है उनसे दूर रहना एवं आत्म कल्याण के विचार से तत्व चिंतन करना मुमुक्ष को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। 'भावना भवनाशिनी' ऐसा जो किसी मनीषी ने कहा है वह इसी सिद्धांत की पुष्टि करता है। उल्लिखित द्वादशानुप्रेक्षाओं के चिंतन से आत्मा में तत्व ज्ञान की जागृति पूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपूर्व मानसिक शांति प्राप्त होती है एवं संसार से वैराग्य की उत्पत्ति तथा उसमें दृढ़ता की पुष्टि होकर कर्मों का संवर होता है, अतः साधु जनों के सिवाय गृहस्थों को भी इनका चिंतन अपने पुरुषार्थ की सिद्धि में परम सहायक बन जाता है। इसलिये इनका चिंतन सभी के लिये लाभ दायक है।

(२०६-२०७-२०८)

बावीस परिषह जय

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशोमशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ।।२०६।।

स्पर्शश्चतृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्य्या वधोनिषद्यास्त्री ।।२०७।।)

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्!
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ।।२०८।।विशेषकम्—

क्षुधा, तृषा, शीतोष्ण, नाग्न्य, बध बंधन दंश मशक अरु व्याधि
सह अलाभ याचन व अरति आक्रोश तथा मलजनित उपाधि।

तृण स्पर्श अज्ञान अदर्शन प्रज्ञा पुरस्कार सत्कार।
चर्या, शय्या, नारि निषद्या, जन्य परीषह हैं दुःखभार।

इन सब परीषहों पर दृढ़ वन विन संक्लेश किये रह शाँत
भव भय भीत साधु जय पायें कर्म निर्जरा हेतु नितांत।

भावार्थः—जीवन में पूर्व अशुभ कर्मोदय के निमित्त वश अनेक प्रकार की आपत्तियाँ, विपत्तियों एवं विघ्न वाधाएँ आया करती हैं। जिनसे प्रभावित होकर मानव क्रोधादि कषायों एवं पापादि हीन कार्यों को करता हुआ पुनः नवीन अशुभ कर्मों का बंध कर भविष्य में भी दुःखों का पात्र बनता रहता है। अतः अपने पूर्व कृत अशुभ कर्मों का फल मानकर दुःखों और बाधाओं को यदि वह समता भावों से सहन कर उन पर विजय प्राप्त कर ले तो न केवल वर्तमान दुखानुभवन से वच सकता है; प्रत्युत् नवीन कर्म बंधन से बचा रहकर अपने सुखमयी भविष्य का निर्माण करने में भी समर्थ हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समागत दुःखों या विघ्न बाधाओं को परीषह कहते हैं। और जब किसी प्रकार का भी दुख या आपत्ति आवे तब उसे समता भाव पूर्वक सहन कर उस पर विजय प्राप्त कर लेने को ही परीषह जय कहते हैं। स्थूल रूप में ये २२ प्रकार के हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है:—(१) क्षुधा-भूख; (२) तृषा-प्यास; (३) हिम-सर्दी, (४) उष्ण-गर्मी, (५) नग्नता (वसन त्याग), (६) याचना-दीनता पूर्वक माँगना, (७) अरति-अनिष्ट संयोग जन्य दु.ख, (८) अलाभ-आहारादि न मिलने या अंतराय आ जाने पर विषाद होना (९) दंशमशक-मच्छरादि जंतुओं के काटने का दुःख (१०) आक्रोश-दूसरों के गाली देने पर तज्जन्य संक्लेश (११) रोग-बीमारी जनित कष्ट (१२) मल-शरीर में मैल लगने या पसीना आने पर मलिनता जनित दुःख; (१३) तृण स्पर्श-काँटा या कंकड़ पत्थर चुभन संबंधी कष्ट, (१४) अज्ञान-बहुत श्रुताम्भास करने पर भी ज्ञान प्राप्ति न होने या विषय के स्मरण न रहने से उत्पन्न संताप, (१५) अदर्शन-तपश्चरण करने पर भी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त न होने पर अश्रद्धा का भाव; (१६) प्रज्ञा-अधिक ज्ञान-वान् हो जाने पर गर्व का भाव, (१७) सत्कार पुरस्कार-किसी के आदर सत्कार न करने अथवा अपमान करने से उत्पन्न मानसिक पीड़ा, (१८) शय्या-निर्वस्त्र शरीर से कंकरीली-पथरीली भूमि पर शयन करने जन्य कष्ट; (१९) चर्या-नंगे पैर कठोर भूमि पर चलने का कष्ट, (२०) बध-दुष्टों द्वारा मारने-पीटने या सताये जाने संबंधी कष्ट; (२१) निषद्या:-एक ही आसन से अधिक समय बैठे रहने जन्य कष्ट; (२२) स्त्री-सुन्दर स्त्रियों के हाव-भाव दिखाने पर संभावित वासना की उत्पत्ति।

ये बाईस प्रकार के दुःख हैं, जिन पर मुनिराज समता भाव पूर्वक विजय प्राप्त करते हैं। श्रावकों पर भी उक्त परीषहें तथा अन्यान्य आपत्तियाँ विपत्तियाँ आती रहती हैं, अतः उन्हें भी यथा शक्ति साम्यभाव से सहन करते हुए उन पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

(२०९)

गृहस्थ को एक देश रत्नत्रय पालन का उपदेश

इतिरत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ।।२०९।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं सेवनीय है शाश्वत रत्नत्रय सद्धर्म विशाल–
सद् गृहस्थ द्वारा भी सम्यक् विकल रूप में सतत त्रिकाल।
यदि अभिलाषा हो अंतस् में मुक्ति वरण की सर्वांङ्गीण–
तदा सुरुचि युत उक्त धर्म ही है आराधनीय अमलीन।

भावार्थः–इस प्रकार मुक्ति के अभिलाषी गृहस्थ को भी प्रति समय रत्नत्रय का निरंतर एक देश पालन करना योग्य है।

जव कोई व्यक्ति गृह का परित्याग कर महाव्रत स्वरूप मुनि धर्म धारण करने में असमर्थ हो तब उसे देश व्रत (अणु व्रत) धारण करके महाव्रताभिलाषी बने रहने का उपदेश दिया जाता है। महाव्रतों और अणुव्रतों के आचरण के सिवाय सम्यक्चारित्र के पालन करने का और कोई मार्ग नहीं है। अतः इस कारिका में आचार्य श्री ने गृहस्थों को निरंतर एक देश रत्नत्रय स्वरूप धर्म का परिपालन करने का उपदेश दिया है। चूंकि श्रावक के रत्नत्रय धर्म की अपेक्षा साधु के रत्नत्रय में कुछ अन्य विशेषताओं की अपेक्षा भी भेद पाया जाता है। इसीलिये ग्रंथों में सम्यग्दर्शन के आज्ञा सम्यक्त्व से लेकर परमावगाढ़ सम्यक्त्व पर्यंत दस भेद भी किये गये हैं अतः श्रावकों की रत्नत्रय की अपूर्णता को एक देशपना प्रतिपादित है।

(२१०)

रत्नत्रय की पूर्णता हेतु मुनिपद धारण की प्रेरणा

बद्धोद्यमेनर्नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

विकल रूप रत्नत्रय सेवें तत्पर रह जो भी सागार–
बोधिलाभ का अवसर पा पुनि पूर्ण करे मुनि पद स्वीकार।
रत्नत्रय परिपूर्ण न होता मुनिपद बिन जिन सूत्र प्रमाण।
अतः आत्महित गृही अंत में मुनि बन साधें पथ निर्वाण।

भावार्थः–विकल रूप में रत्नत्रय का परिपालन करते हुए गृहस्थों को बोधि–रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त करने के लिये यथावसर यत्न पूर्वक मुनिपद धारण कर शीघ्र ही उसे पूर्ण कर लेना चाहिए।

क्योंकि रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त किये बिना संसार से मुक्ति पाना असंभव है। अतः गहस्थ को एक देश रत्नत्रय की आराधना करके ही संतुष्ट न हो जाना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२११)

गृहस्थ को कर्म बंध का कारण

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।२११।।

जो अपूर्ण रत्नत्रय साधक कर्मबंध करता तत्काल
उसमें रागादिक विपक्ष का ही रहता है दोष विशाल—
रत्नत्रय तो मुक्ति मार्ग है—है न बंध कारक वह रंच—
तत्सह जो रागादि भाव हों उन द्वारा हो बंध प्रपंच।

भावार्थः—अपूर्ण रत्नत्रय की आराधना करने वाले गृहस्थ को जो कर्म बंध होता है उसे विपक्ष (रागादि भाव) कृत जानना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ में रागद्वेषादि विकारों का अस्तित्व पाया जाता है। रत्नत्रय-जोकि मोक्ष का उपाय है वह बंध का उपाय नहीं हो सकता।

गृहस्थ द्वारा एक देश रत्नत्रय की आराधना की जाती है उस दशा में उसमें प्रत्याख्यान कषायें विद्यमान रहती हैं। उन्हीं के निमित्त से उसे कर्मों का बंध होकर संसार में शुभ गति की प्राप्ति होती है। मुक्ति की प्राप्ति तभी होती है जब वह कषाय रहित होकर समग्र रत्नत्रय की आराधना और तप कर कर्मों का नाश करता है। अतः उसे रत्नत्रय की पूर्णता करने हेतु कषाय रहित होने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(२१२)

रागादिक विकारों से बंध सम्यग्दर्शन से अबंध

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्यबन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ।।२१२।।

जिन अंशों में वह सुदृष्टि है—उनसे रहता बंध विमुक्त।
जितने अंशों में रागादिक हैं उन द्वारा हो बंधन युक्त।

भावार्थः—गृहस्थ जिन अंशों में सम्यग्दर्शन प्राप्त सम्यग्दृष्टि है उन (सम्यग्दर्शन के) अंशों द्वारा उसे कर्म बंध नहीं होता; किन्तु उस समय उसमें जिन अंशों में राग होता है उसी से उसे कर्म बंध होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी कषाय का अभाव हो जाता है; परंतु अप्रत्याख्यानादि कषायें विद्यमान रहती हैं अतः इनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा उसे बंध होता है। देशव्रती श्रावक में अप्रत्याख्यान कषाय नहीं रहती; किन्तु प्रत्याख्यान एवं संज्वलन कषाय संबंधी बंध होता है मुनि-राज के प्रत्याख्यान कषाय का अभाव हो जाने पर भी संज्वलन कषायें जिन्हें जितने अंशों में रहती हैं उतने अंशों में उन्हें बंध होता है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन से किसी को भी बंध नहीं होता।

(२१३)

सम्यग्ज्ञान बंध का कारण नहीं

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्यबन्धनं नास्ति।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्यबन्धनं भवति ॥२१३॥

जिन अंशों में समुपलब्ध है—उस सुदृष्टि को सम्यग्ज्ञान—
उससे बंध न हो, पर उसमें—रागाँशों से बंधन जान।

भावार्थः—ज्ञानी में सम्यग्ज्ञान जिन अंशों में है उन अंशों से उसें कर्म बंध नहीं होता; प्रत्युत् जिन अंशों में राग होता है उसी से उसे कर्म बंध होता है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान बंध का कारण नहीं होता। रागादि भावों से ही बंध होता है।

(२१४)

सम्यक्चारित्र बंध का कारण नहीं

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

है चारित्र अंश में जितने—उससे हो नहि बंध नवीन।
तत्क्षण जितना राग अंश हों, उससे ही हो बंध प्रवीण!

भावार्थः—इसी प्रकार आत्मा में जिन अंशों में सम्यक्चारित्र है उस से उसें बंध नहीं होता; किन्तु चारित्र धारण करके भी उसमें जिन अंशों में हीनाधिक मात्रा में राग रहता है उसी से बंध होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में 'सम्यक्त्व' को एवं सराग संयमादि को देव गति के बंध का कारण जो कहा है वह उपचार से ही जानना चाहिए; क्योंकि सम्यक्त्व और संयम के धारण कर लेने पर भी शुभ रागाँश विद्यमान रहते हैं जिनके द्वारा ही उसे वास्तव में बंध होना कहा गया है। सम्यक्त्व और चारित्र के साथ रहने से उन्हें बंध का कारण उपचार से कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२१५)

बंध के कारण और प्रकार

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

प्रकृति प्रदेश बंध हों निश्चित मन वच काय योग के द्वार।
अनुभाग स्थिति द्वय कषाय गत भाव द्वार ही लें अवतार।
योग कषायों से विभिन्न हैं दर्शन ज्ञान चरित्र महान
इनसे कैसे कर्म बंध हो—जो करते हैं मुक्ति प्रदान।

भावार्थः—प्रदेश बंध और प्रकृतिबंध मन वचन काय की चंचलता रूप योगों से होते हैं और स्थिति बंध एवं अनुभाग बंध उस समय विद्यमान कषाय भाव से होते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र न तो योग रूप हैं और न कषाय रूप ही हैं अतः इन से बंध क्यों कर होगा ? रत्नत्रय तो आत्मा के गुणों का नाम है यदि आत्मा के गुण ही बंध के कारण होवें तो मोक्ष फिर किसी प्रकार भी न हो सकेगा।

(२१६)

रत्नत्रय का स्वरूप

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्म--परिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनिचारित्रं कुतएतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

आत्म स्वरूप विनिश्चिति दर्शन, आत्मबोध है सम्यग्ज्ञान।
आत्म स्थिति चारित्र विहित है—इनसे हो क्यों कर बंधान ?
रत्नत्रय आत्मिक स्वरूप है, हो स्वरूप से रंच न बंध।
बंधन कारक हो स्वरूप यदि जीव बने कैसे निर्बन्ध ?

भावार्थः—आत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय पूर्वक निश्चय रूप श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है एवं आत्म स्वरूप के वास्तविक परिज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा गया है तथा आत्मस्वरूप में स्थिरता को सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इस प्रकार तीनों गुणों के स्वरूप को देखते हुए इन से बंध किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२१७)

एक शंका और उसका निराकरण

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बंधः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ।।२१७।।

सम्यग्दर्शन वा चरित्र से—तीर्थंकर आहारक कर्म—
प्रकृति बंध जो सूत्र विहित हैं—इनका सुनहु आंतरिक मर्म—
यह उपचार नयाश्रित, कथनी है सदोष नहि अतः प्रवीण !
नय ज्ञानी नय दृष्टि समझ कर वह भी पाते दूषणहीन।

भावार्थः—आगम में जो तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बंध का कारण सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र को प्रतिपादन किया गया है वह भी नयों के ज्ञाता ज्ञानीजनों को दोष का कारण नहीं है। अर्थात् नय विशारद यह भली भाँति जानते हैं कि सम्यग्दर्शन और चारित्र को तीर्थंकर और आहारक प्रकृति बंध का कारण क्यों कहा गया है ?

(२१८)

उक्त कथन का स्पष्टीकरण

सतिसम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ।।२१८।।

तीर्थंकर-आहार प्रकृति के बंधक जो हैं शुभ परिणाम
वे सद्दर्शन वा चरित्र की सुस्थिति में ही हों अभिराम।
सद्दर्शन चारित्र न हों तो होंगे नहि वैसे शुभ भाव
ये बंधन प्रति उदासीन हैं आरोपित है बंधक भाव।

भावार्थः—वास्तविकता यह है कि आत्मा में सम्यक्त्व और चारित्र गुण के प्रकट हो जाने पर ही इस जाति के योग कषायों की प्रवृत्ति होती या हो सकती है जिससे तीर्थंकर और आहारक प्रकृतियों का बंध होता है। तथा सम्यक्त्व और चारित्र के अभाव में तीर्थंकर एवं आहारक प्रकृति बंध योग्य योग कषायें नहीं होतीं, इस कारण सम्यक्त्व और चारित्र को उपचार से उनके बंध का कारण कहा गया है। वस्तुतः उन प्रकृतियों के बंध में ये (सम्यक्त्व और चारित्र) उदासीन ही हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२१९)

एक अन्य आशंका

ननुकथमेवंसिद्धयुति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ।।२१९।।

आशंका है एक यहाँ, जो–रत्नत्रय साधक मुनिराज
देवायुष सम पुण्य प्रकृति के सजें बंध का कैसे साज ?
यह प्रसिद्ध है परंपरागत अमुक अमुक मुनिराज महान
रत्नत्रय आराधन कर वर अमुक स्वर्ग में किया पयान ?

भावार्थः–यदि ऐसा है (कि सम्यग्दर्शन और चारित्र बंध के कारण नहीं हैं) तो देवायु आदि उत्तम प्रकृतियों का बंध ही रत्नमय धारक मुनीश्वरों के हुआ करता है–यह सर्व जन प्रसिद्ध कथन की सत्यता किस प्रकार सिद्ध होगी ?

(२२०)

आशंका का समाधान

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तुपुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ।।२२०।।

बंधु ! उक्त आशंका भी तव है नितांत भ्रमपूर्ण, निदान–
मुक्ति हेतु ही है रत्नत्रय, बंधनकारक नहि मतिमान् !
मुनि के पुण्यास्रव में केवल–अपराधी हैं शुभ उपयोग–
भिन्न कार्य में निश्चित होता भिन्न कारणों का संयोग ।

भावार्थः–बंधु ! इस लोक में रत्नत्रय सदा ही निर्वाण (मोक्ष) का कारण होता है; संसार या बंध का कारण नहीं । किंतु रत्नत्रय धारी आत्मा में जो पुण्य का आस्रव होता है वह उसके शुभोपयोग का अपराध है अर्थात् रत्नत्रय युक्त आत्मा में जितने अंशों में शुभोपयोग रहता है उतने अंशों में उससे उसे पुण्य बंध भी होता है । श्रावक (एवं देश रत्नत्रयधारी) तो शुभोपयोगी होते हैं और मुनिराज शुभोपयोगी एवं शुद्धोपयोगी दो प्रकार के होते हैं । पूर्ण शुद्धोपयोगी मुनि दशा में केवल योग संबंधी आस्रव होता है और शुभोपयोगी एवं आँशिक शुद्धोपयोगी के यथायोग्य योग एवं मंद कषाय के कारण पुण्यास्रव भी होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारांश यह कि आस्रव बंध के कारण योग और कषायें हैं, रत्नत्रय नहीं।

(२२१)

बंध एवं मोक्ष के कारण पृथक् २ हैं

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्ध कार्य्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ।।२२१

अति विरुद्ध कार्यों का होता एक वस्तु में जब समवाय।
उनके कारण भी विभिन्न ही—तब निश्चित हों परम सहाय।
किंतु अकारण को भी कारण—मान रूढ़ होता व्यवहार।
यथा तप्त घृत द्वार जलें तब—घृत से जलन कथन उपचार।

भावार्थः—एक वस्तु में अत्यंत विरुद्ध दो कार्यों का एक साथ समवाय होने के कारण उपचरित नय से लोक में व्यवहार द्वारा एक कारण के कार्य को दूसरे का कार्य प्रतिपादित किया जाता है : जैसे घी जलाता है, यह कथन उपचरित ही समझा जाना चाहिए। इस कथन का कारण अग्नि के संयोग से घी का गरम हो जाना है। वस्तुतः अग्नि जलाती है, घी नहीं। वैसे ही बंध तो योग कषायों से ही होता है। रत्नत्रय से नहीं । किन्तु रत्नत्रय धारी के योग कषायों द्वारा होने वाला बंध उपचार से रत्नत्रय द्वारा हुआ कह दिया जाता है। ऐसा जान लेना चाहिए।

(२२२)

उपसंहार

सम्यक्त्व बोध चारित्र लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ।।२२२।।

मुख्य तथा उपचार नयाश्रित—मोक्षमार्ग यों सूत्र प्रमाण—
प्रतिपादित है सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र महान—
यही परम पुरुषार्थ सिद्धि का संसाधक है चिरकालीन—
जिससे पाकर मनुज परम पद रमें सौख्य में बन स्वाधीन।

भावार्थः—इस प्रकार मुख्य और उपचार रूप जो रत्नत्रयात्मक मोक्ष मार्ग है वह पुरुष को परम पद की (निर्वाण की) प्राप्ति कराता है।

इस कारिका का अर्थ और भावार्थ पंडित प्रवर टोडरमलजी ने अपनी पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की टीका में निम्न शब्दों में लिखा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन स्वरूप ही मोक्ष मार्ग अर्थात् निर्वाण का मार्ग है। यह मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। और यही आत्मा को मोक्ष पहुँचाता है।"

"भावार्थः—निश्चय रत्नत्रय तो मुख्य है और व्यवहार रत्नत्रय उपचार रूप है, यह दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं और जीवों को परम पद की प्राप्ति करवाते हैं अर्थात् निश्चय मोक्ष मार्ग साक्षात् मोक्ष का साधक है और व्यवहार मोक्ष मार्ग परंपरा से मोक्ष का साधक है, अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्ष मार्ग का कारण है।"

कोई कारण तभी कहलाता है जब उससे कार्य उत्पन्न हो। ऐसी स्थिति में समन्वित रूप में उभय प्रकार से रत्नत्रयों की शरण लेकर अर्थात् कारण स्वरूप व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति कर मानव को आत्म कल्याण (अपने पुरुषार्थ की सिद्धि) करना चाहिए। व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय परस्पर विरोधी न होकर मित्र के समान हैं और एक दूसरे के पूरक सहयोगी हैं अतः यथायोग्य इन पर आरूढ़ होकर आत्म कल्याण करने की आचार्य श्री ने अंत में प्रेरणा की है।

(आधुनिक युग में कुछ मनीषी जन साधारण के लिये व्यवहार मोक्ष मार्ग को हेय एवं सर्वथा संसार और बंध का ही कारण निरूपित कर उससे जनता की श्रद्धा समाप्त करके गुमराह कर रहे हैं; किन्तु ग्रंथ कर्त्ता ने निश्चय व्यवहार उभय रूप मोक्ष मार्ग का निरूपण कर जो दोनों में कार्य कारण भाव या मैत्री भाव दर्शाया है, उस प्रकाश में हमें उभय मोक्ष मार्ग का साधन कर आत्म कल्याण करना चाहिये।

(२२३)

परम पद की विशेषताएँ

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

वह स्वरूप समवस्थित पद है—निरुपघात, नित, बाध विहीन।
निर्विकार, निर्लेप, गगन सम, परमानंद मयी अम ोन

भावार्थः—रत्नत्रय की आराधना करके जब जीव परम पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है तब वहाँ सदाकाल कर्मों के लेप से रहित अपने शुद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप में अवस्थित होकर। पर के आघातों रहित अत्यंत निर्मल परम पुरुष परमात्मा बनकर शुद्धाकाश की भाँति निरुपलेप हुआ स्फुरायमान (प्रकाशमान) होता है। अर्थात् मुक्त जीव सदा के लिये सम्पूर्ण बन्धनों और विघ्नबाधाओं से रहित शुद्धावस्था को प्राप्त होकर अनंत ज्ञान दर्शन सुख शक्त्यादि गुणों से सम्पन्न परम पद में लीन हो जाता है। दार्शनिक जगत में मोक्ष के संबंध में अनेक भ्रमपूर्ण मान्यताएँ हैं—जैसे दीपक बुझ जाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता वैसे ही मोक्ष प्राप्त कर आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। कोई कहते हैं उस दशा में ज्ञानादि गुणों से आत्मा शून्य हो जाता है। कोई कहते हैं कुछ कल्पकाल पर्यंत आत्मा मोक्ष में रह कर पुनः जन्म मरण करने लगता है। इन जैसी मान्यताओं को ध्यान में रखकर आचार्य ने मोक्ष का उक्त वास्तविक स्वरूप दर्शाया है।

इसी के संबंध में वे आगे कहते हैं—

(२२४)

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकल विषय विषयात्मा।
परमानन्द निमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

यों परमात्म विमल पद पाकर बन जाता कृतकृत्य पुमान्—
सकल ज्ञेय ज्ञायक होकर नित करता चिदानंद रस पान।

भावार्थः—वह परमात्मा कृतकृत्य होता है अर्थात् उसे फिर कुछ भी (तप ध्यानादि) कार्य करना शेष नहीं रहता वह ज्ञान मय होता है उसके ज्ञान में सम्पूर्ण पदार्थ विषय होते हैं अर्थात् वह सर्वज्ञ होता है साथ ही परमानंद में निमग्न होकर सदा स्थिर रहता है।

सारांश यह कि जिस आत्मिक सुख और अनंतज्ञान की प्राप्ति के लिए निश्चय व्यवहार रूप रत्नत्रय की आराधना की जा रही थी वह निर्वाण पद प्राप्त कर लेने से सफल हो गई। इसे ही पुरुषार्थ की सिद्धि कहते हैं। तथास्तु!

(२२५।१)

अनेकांतमयी जैन नीति का महत्व

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मंथान नेत्रमिवगोपी ॥२२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथा मथानी डाल गोपिका रज्जू के द्वय छोरों द्वार–
आकर्षण शिथिलनकर पाती–दधि मथ प्रिय गोरस का सार

वस्तु अनेकाँतात्मक त्यों ही स्याद्वाद द्वारा स्वीकार–
मुख्य गौण कर जय पाती है जैन नीति सर्वत्र उदार।

भावार्थः–जैसे ग्वालिन (दही से मक्खन निकालने के लिये) मथानी में संलग्न रस्सी के एक छोर को अपनी ओर खींचती और दूसरे छोर को शिथिल करती तथा फिर दूसरे को अपनी ओर खींचती व प्रथम छोर को शिथिल करती हुई अपने इष्ट कार्य में सफल होती है, वैसे ही जिनेन्द्र की अनेकाँतात्मक स्याद्वाद परक नीति वस्तु तत्व और मोक्ष मार्ग का निश्चय नय और व्यवहार नय से प्रतिपादन कर जयवंती प्रवर्त्तती है।

ग्वालिन यदि रस्सी के एक छोर को पकड़े रहकर उसे ही खींचती चली जावे तो दही से मक्खन नहीं निकल सकता उसी प्रकार यदि व्यक्ति सर्वथा एकान्त पक्ष ग्रहण कर निश्चय और व्यवहार धर्म या नय संबंधी खींचतान करने लगे तो उसे यथार्थ रूप में वस्तु का अनेकांतात्मक स्वरूप व मर्म की जानकारी नहीं हो सकती और न फिर वह अपने साध्य पुरुषार्थ की सिद्धि में सफल हो सकता।

(२२५/२)

दुराग्रहों से दूर रहने की प्रेरणा

मोही जन नय पक्ष ग्रहण कर दुराग्रही बन निपट अजान–
जन्माँधों सम भ्रम तम रत हों वस्तु स्वरूप यथार्थ न जान।

तज मिथ्याभिनिवेश अतः तुम तत्व विचारक बनों प्रवीण !
सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर जिससे हो परमात्म्य लाभ अमलीन।

इस कारिका द्वारा परमोपकारी आचार्य श्री ने जैन न्याय या शासन की निष्पक्षता प्रकट कर मुक्तिमार्ग या तत्व के विषय में निश्चय व्यवहार संबंधी खींचतान एवं विवादों को निरस्त करते हुए व्यक्ति को उभय नयों द्वारा निष्पक्ष भाव से वस्तुस्वरूप समझने एवं ज्ञान प्राप्त कर निश्चय व्यवहार रूप धर्माराधन करने की प्रेरणा की है। ताकि वह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर परस्पर सापेक्ष निश्चय व्यवहारात्मक मोक्ष मार्ग द्वारा आत्म कल्याण कर सके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२२६)

अंत मंगल और ग्रंथकर्त्ता का लघुता प्रदर्शन

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ।।२२६।।

किया विविध वर्णों ने नाना पद समूह का नव निर्माण—
जिन से वाक्य विनिर्मित होकर -ग्रंथ हुआ संपन्नमहान।
इस पवित्र कृति की निर्मिति में मम कर्त्तृत्व नहीं है रंच।
जिनवाणी जयवंत प्रवर्ते—नाम शेष हों सकल प्रपंच ।।

भावार्थः—अनेक प्रकार के वर्णों (अक्षरों) के द्वारा पदों तथा अनेक पदों द्वारा वाक्यों एवं उन वाक्यों द्वारा इस ग्रंथ का निर्माण हुआ है। मेरा इसमें कुछ भी कर्त्तृत्व नहीं है।

ग्रंथकार ने इस अंतिम कारिका द्वारा अपने कर्त्तृ व का अभिमान न कर अपनी लघुता का सविशेष रूप में प्रदर्शन किया है, जो उनकी महानता एवं वीतरागता का ही प्रतीक है।

इति श्रीमदमृतचन्द्राचार्य विरचित पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नामक ग्रंथ और नाथूराम डोंगरीय न्यायतीर्थ द्वारा उसकी संदर्शिका नामा हिन्दी भाषा के माध्यम से पद्य एवं गद्यात्मक रचना समाप्त।

इंदौर रक्षाबंधन विक्रम सं. २०३८

इति

5218

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi